एम.ए. – अन्तिम वर्ष

(M.A. - Final Year)

प्रश्नपत्र – चतुर्थ

(Paper - IV)

प्रश्नपत्र का नाम – "राजनीतिक समाजशास्त्र"

(Paper's Name - "Political Sociology")

खण्ड – एक

(Block - One)

इकाई – एक : ''राजनीतिक समाजशास्त्र की परिभाषा व विषयवस्तु''

Unit – 1 - (Definition and Subject Matter of Political Sociology)

लेखक :

डा. विजय कुमार वर्मा

प्रवक्ता, समाजशास्त्र

उ.प्र. विकलांग उद्धार डा. शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यालय

मोहान रोड, लखनऊ।

एम.ए. (अंतिम वर्ष)
(M.A. Final Year)

प्रश्न पत्र – चतुर्थ
(Paper - IVth)

प्रश्न पत्र का नाम – राजनीतिक समाजशास्त्र
(Paper's Name - Political Sociology)

इकाई – एक : "राजनीतिक समाजशास्त्र की परिभाषा व विषय वस्तु"

1.0 – उद्देश्य

1.1 – प्रस्तावना

1.2 – राजनीतिक समाजशास्त्र : अर्थ, परिभाषा, विषय वस्तु, क्षेत्र एवं प्रकृति

1.2.1 राजनीतिक समाजशास्त्र : अर्थ, परिभाषा, विषय वस्तु

1.2.2 विषय क्षेत्र, अभ्युदय के कारण एवं प्रकृति

1.3 – राजनीतिक समाजशास्त्र के विशेष उपागम

1.3.1 आदर्शात्मक उपागम

1.3.2 संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम

1.3.3 व्यवस्थात्मक उपागम

1.3.4 व्यवहारवादी उपागम

1.3.5 संघर्षात्मक उपागम

1.4 – राजनीतिक व्यवस्था व समाज का अन्तर्सम्बन्ध

1.5 – सारांश

1.6 – बोध प्रश्न : बहुविकल्पीय प्रश्न

1.7 – बहुविकल्पीय प्रश्नों का उत्तर

1.8 – अभ्यास प्रश्न

1.9 – संदर्भ–सूची

1.1 उद्देश्य :

इस इकाई–1 के अन्तर्गत राजनीतिक समाजशास्त्र से संबंधित निम्न बिन्दुओं पर चर्चा की जा रही है जो ज्ञान वृद्धि में सहायक होगी।

- राजनीतिक समाजशास्त्र की परिभाषा
- राजनीतिक समाजशास्त्र की विषयवस्तु।
- राजनीतिक समाजशास्त्र के विविध विशेष उपागमों की चर्चा।
- आदर्शात्मक उपागम, संरचनात्मक प्रकार्यवादी उपागम, व्यवहारवादी
- उपागम व व्यवस्थात्मक व संघर्षात्मक उपागम।
- समाज व राजनीतिक व्यवस्था के बीच अन्तर्सम्बन्ध की विधिवत्
- चर्चा।

इस प्रकार निम्न बिन्दुओं पर चर्चा के द्वारा हम सभी उपर्युक्त महत्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकेगें।

1.1 प्रस्तावना :

इस इकाई में राजनीतिक समाजशास्त्र के कतिपय बिन्दुओं की क्रमबद्ध चर्चायें की जा रही है। बिन्दु 1.3 के अन्तर्गत राजनीतिक समाजशास्त्र की परिभाषा, क्षेत्र, व विषय वस्तु पर प्रकाश डाला जायेगा। इसी इकाई के अन्तर्गत राजनीतिक समाजशास्त्र के विविध उपागमों यथा आदर्शात्मक उपागम, संरचनात्मक उपागम, प्रकार्यवादी उपागम, व्यवहारवादी उपागम आदि की विधिवत् विवेचना की जा रही है। अंत में राजनीतिक व्यवस्था व समाज के अन्तर्सम्बन्धों की चर्चा होगी। इसके बाद बोध प्रश्नों को दिया गया है। हम सभी इस अध्ययन के द्वारा राजनीतिक समाजशास्त्र को सरलता से समझने में सक्षम हो सकेगे।

1.2 राजनीतिक समाजशास्त्र : अर्थ, परिभाषा, विषय वस्तु, क्षेत्र एवं प्रकृति

19वीं शताब्दी में राज्य और समाज के आपसी सम्बन्ध पर वाद–विवाद शुरू हुआ तथा 20वीं शताब्दी में, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सामाजिक विज्ञानों में विभिन्नीकरण और विशिष्टीकरण की उदित प्रवृत्ति तथा राजनीति विज्ञान में व्यवहारवादी क्रान्ति और अन्तः अनुशासनात्मक उपागम के बढ़े हुए महत्व के परिणामस्वरूप जर्मन और अमरीकी विद्वानों में राजनीतिक विज्ञान के समाजोन्मुख अध्ययन की एक नूतन प्रवृत्ति शुरू हुई। इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप राजनीतिक समस्याओं की समाजशास्त्रीय खोज एवं जांच की जाने लगी। ये खोजें एवं जांच न तो पूर्ण रूप से समाजशास्त्रीय थीं और न ही पूर्णतः राजनीतिक। अतः ऐसे अध्ययनों को 'राजनीतिक समाजशास्त्र' के नाम से पुकारा जाने लगा।

एक स्वतन्त्र और स्वायत्त अनुशासन के रूप में 'राजनीतिक समाजशास्त्र' का उद्‌भव और अध्ययन–अध्यापन एक नूतन घटना है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद फेंज न्यूमा, सिमण्ड न्यूमा, हेन्स गर्थ, होरोविज, जेनोविटस, सी.राइट मिल्स, ग्रियर ओरलिन्स, रोज, मेकेन्जी, लिपसेट जैसे विद्वानों और चिन्तकों की रचनाओं में 'राजनीतिक समाजशास्त्र' ने एक विशिष्ट अनुशासन के रू‍ में लोकप्रियता अर्जित की है। लेकिन आज भी यह विषय अपनी बाल्यावस्था में ही है। इसकी बाल्यावस्था के कारण ही विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों में राजनीतिक समाजशास्त्र के पाठ्‌यक्रम के अन्तर्गत अध्ययन–अध्यापन हेतु किन–किन टॉपिक्स को शामिल किया जाये और किन–किन क्षेत्रों की गवेषणा की जाये इस बात को लेकर विद्वानों और लेखकों में गम्भीर मतभेद हैं। यहां तक कि इस विषय के नामकरण के बारे में भी आम सहमति नहीं पायी जाती है। कतिपय विद्वान इसे 'राजनीतिक समाजशास्त्र' (Political Sociology) कहकर पुकारते हैं जबकि अन्य विद्वान इसे 'राजनीति का समाजशास्त्र' (Sociology of Politics) कहना पसन्द करते

हैं। एस. एन. **आइसेन्सटेड** इसे 'राजनीतिक प्रक्रियाओं और व्यवस्थाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन' (Sociological study of Political Processes and Political Systems) कहकर पुकारते हैं। 'राजनीतिक समाजशस्त्र' वस्तुतः समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के बीच विद्यमान सम्बन्धों की घनिष्ठता का सूचक है। इस विषय की व्याख्या समाजशास्त्री और राजनीतिशास्त्री अपने–अपने ढंग से करते हैं। जहां समाजवादी के लिए यह समाजशास्त्र की एक शाखा है, जिसका सम्बन्ध समाज के अन्दर या मध्य में निर्दिष्ट शक्ति के कारणों एवं परिणामों तथा उन सामाजिक और राजनीतिक द्वन्द्वों से है जो कि सत्ता या शक्ति में परिवर्तन लाते हैं; राजनीतिशास्त्री के लिए यह राजनीतिशास्त्र की शाखा है जिसका सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज व्यवस्था के बजाय राजनीतिक उपव्यवस्था को प्रभावित करने वाले अन्तःसम्बन्धों से है। ये अन्तःसम्बन्ध राजनीतिक व्यवस्था तथा समाज की दूसरी उपव्यवस्थाओं के बीच में होते हैं। राजनीतिशास्त्री की रूचि राजनीतिक तथ्यों की व्याख्या करने वाले सामाजिक परिवर्त्यों तक रहती है जबकि समाजशास्त्री समस्त सम्बन्धी घटनाओं को देखता है।

एक नया विषय होने के कारण 'राजनीतिक समाजशास्त्र' की परिभाषा करना थोड़ा कठिन है। राजनीतिक समाजशास्त्र के अन्तर्गत हम सामाजिक जीवन के राजनीतिक एवं सामाजिक पहलुओं के बीच होने वाली अन्तःक्रियाओं का विश्लेषण करते हैं; अर्थात् राजनीतिक कारकों तथा सामाजिक कारकों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा इनके एक–दूसरे पर प्रभाव एवं प्रतिच्छेदन का अध्ययन करते हैं।

'राजनीतिक समाजशास्त्र' की निम्नलिखित परिभाषाएं की जाती हैं :

'डाउसे तथा **ह्यूज** : "राजनीतिक समाजशास्त्र, समाजशास्त्र की एक शाखा है जिसका सम्बन्ध मुख्य रूप से राजनीति और समाज में अन्तःक्रिया का विश्लेषण करना है।"

जेनोविट्सः "व्यापकतर अर्थ में राजनीतिक समाजशास्त्र समाज के सभी संस्थागत पहलुओं की शक्ति के सामाजिक आधार से सम्बन्धित है। इस परम्परा में राजनीतिक समाजशास्त्र स्तरीकरण के प्रतिमानों तथा संगठित राजनीति में इसके परिणामों का अध्ययन करता है।"

लिपसेट : "राजनीतिक समाजशास्त्र को समाज एवं राजनीतिक व्यवस्था के तथा सामाजिक संरचनाओं एवं राजनीतिक संस्थाओं के पारस्परिक अन्तःसम्बन्धों के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"

बेंडिक्स : "राजनीति विज्ञान राज्य से प्रारम्भ होता है और इस बात की जांच करता है कि यह समाज को कैसे प्रभावित करता है। राजनीतिक समाजशास्त्र समाज से प्रारम्भ होता है और इस बात की जांच करता है कि वह राज्य को कैसे प्रभावित करता है।"

पोपीनों : "राजनीतिक समाजशास्त्र में वृहत् सामाजिक संरचना तथा समाज की राजनीतिक संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है।"

सारटोरी : "राजनीतिक समाजशास्त्र एक अन्तःशास्त्रीय मिश्रण है जो कि सामाजिक तथा राजनीतिक चरों को अर्थात् समाजशास्त्रियों द्वारा प्रस्तावित निर्गमनों को राजनीतिशास्त्रियों द्वारा प्रस्तावित निर्गमनों से जोड़ने का प्रयास करता है। यद्यपि राजनीतिक समाजशास्त्र राजनीतिशास्त्र तथा समाजशास्त्र को आपस से जोड़ने वाले पुलों में से एक है, फिर भी इसे 'राजनीति के समाजशास्त्र' का पर्यायवाची नहीं समझा जाना चाहिए।"

लेविस कोजर : "राजनीतिक समाजशास्त्र, समाजशास्त्र की वह शाखा है जिसका सम्बन्ध सामाजिक कारकों तथा तात्कालिक समाज में शक्ति वितरण से है। इसका सम्बन्ध सामाजिक और राजनीतिक संघर्षो से है जो शक्ति वितरण में परिवर्तन का सूचक है।"

टॉम बोटामोरः "राजनीतिक समाजशास्त्र का सरोकर सामाजिक सन्दर्भ में सत्ता (Power) से है। यहां सत्ता का अर्थ है एक व्यक्ति या सामाजिक समूह द्वारा कार्यवाही करने, निर्णय करने व उन्हें कार्यान्वित करने और मोटे तौर पर निर्णय करने के कार्यक्रम को निर्धारित करने की क्षमता जो यदि आवश्यक हो तो अन्य व्यक्तियों और समूहों के हितों और विरोध में भी प्रयुक्त हो सकती है।"

राजनीति विज्ञान के परम्परावादी विद्वान अपने अध्ययन विषय का सम्बन्ध 'राज्य' और 'सरकार' जैसी औपचारिक संस्थाओं से जोड़ते थे। राजनीति विज्ञान में व्यवहारवादी क्रान्ति के परिणामस्वरूप 'राजनीति' शब्द का प्रयोग व्यक्तियों के राजनीतिक व्यवहार, हित समूहों की क्रियाओं तथा विभिन्न हित समूहों में संघर्ष के समाधान के लिए किया जाने लगा। डेविड ईस्टन ने इसे 'किसी समाज में मूल्यों के प्राधिकारिक वितरण से सम्बन्धित क्रिया कहा है।' संक्षेप में, राजनीति के अध्ययन से अभिप्राय केवल राज्य और सरकार की औपचारिक राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन करना ही नहीं अपितु यह एक सामाजिक क्रिया है क्योंकि सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों में राजनीति पायी जाती है।

निष्कर्षतः राजनीतिक समाजशास्त्र का उपागम सामाजिक एवं राजनीतिक कारकों को समान महत्व देने के कारण, समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र दोनों से भिन्न है तथा इसलिए यह एक पृथक् सामाजिक विज्ञान है। प्रो.आर.टी. जनगम के अनुसार राजनीतिक समाजशास्त्र को समाजशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र के अन्तःउर्वरक की उपज माना जा सकता है जो राजनीति को सामाजिक रूप में प्रेक्षण करते हुए, राजनीति पर समाज के प्रभाव तथा समाज पर राजनीति के प्रभाव का अध्ययन करता है।

संक्षेप, में राजनीतिक समाजशास्त्र समाज के सामाजिक आर्थिक पर्यावरण से उत्पन्न तनावों और संघर्षो का अध्ययन कराने वाला विषय है। राजनीति विज्ञान की भांति राजनीतिक समाजशास्त्र समाज में शक्ति सम्बन्धों के वितरण तथा शक्ति विभाजन का अध्ययन हैं इस दृष्टि से कतिपय विद्वान इसे राजनीति विज्ञान का उप–विषय भी कहते है।

उपर्युक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करने से 'राजनीतिक समाजशास्त्र' की निम्नलिखित विशेषताएं स्पष्ट होती हैं– (1) राजनीतिक समाजशास्त्र राजनीति विज्ञान नहीं है क्योंकि इसमें मात्र राज्य और सरकार की औपचारिक संरचनाओं का अध्ययन नहीं होता। (2) यह समाजशास्त्र भी नहीं है क्योंकि इसमें मात्र सामाजिक संस्थाओं का ही अध्ययन नहीं किया जाता। (3) इसमें राजनीति का समाजशास्त्रीय परिवेश में अध्ययन किया जाता है। (4) इसमें राजनीतिक समस्याओं को आर्थिक और सामाजिक परिवेश में देखा जाता है। (5) इसकी विषय–वस्तु और कार्यपद्धति को समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र, दोनों विषयों से लिया जाता है।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि 'राजनीतिक समाजशास्त्र' राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र दोनों के गुणों को अपने में समाविष्ट करते हुए यह दोनों का अधिक विकसित रूप में प्रतिनिधित्व करता है। एस.एस. लिपसेट इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं : "यदि समाज–व्यवस्था का स्थायित्व समाजशास्त्र की केन्द्रीय समस्या है तो राजनीतिक व्यवस्था का स्थायित्व अथवा जनतन्त्र की सामाजिक परिस्थिति राजनीतिक समाजशास्त्र की मुख्य चिन्ता है।

राजनीतिक समाजशास्त्र की विषय–वस्तु :

किसी भी विषय की विषय–वस्तु निर्धारित करना कठिन कार्य है। यह कठिनाई राजनीतिक समाजशास्त्र जैसे नवीन विषय में, जोकि अभी तक अपनी शैशवावस्था में है और भी अधिक है। फिर भी राजनीतिक समाजशास्त्र की परिभाषाओं से इसके अन्तर्गत अध्येय पहलुओं का पता चलता है। लिपसेट के अनुसार अगर समाजशास्त्र की दिलचस्पी का मुख्य विषय समाज का स्थायित्व है तो राजनीतिक समाजशास्त्र मुख्य रूप से एक विशिष्ट संस्थागत संरचना अर्थात् राजनीतिक शासन (Political regime) से सम्बद्ध है।

बैनडिक्स तथा लिपसेट ने राजनीतिक समाजशास्त्र की विषय–वस्तु में निम्नलिखित पहलुओं को सम्मिलित किया है :

1. समुदायों तथा राष्ट्रों में मतदान व्यवहार (मतदान का व्यवहारात्मक अध्ययन);
2. आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण तथा राजनीतिक निर्णयन कार्य;
3. राजनीतिक आन्दोलनों तथा हित–समूहों की विचारधाराएँ;
4. राजनीतिक दल, ऐच्छिक समितियाँ, अल्पतन्त्र की समस्याएँ तथा राजनीतिक व्यवहार के मनोवैज्ञानिक सहसम्बन्ध; तथा
5. सरकार एवं अधिकारीतन्त्र की समस्याएँ।

ग्रीर तथा ऑरलियन्स ने राजनीतिक समाजशास्त्र की विषय–वस्तु में (1) राज्य की संरचना, (2) वैधता की प्रकृति एवं दशाएँ, (3) शक्ति पर एकाधिकार तथा राज्य द्वारा इसका प्रयोग, तथा (4) उप–इकाइयों की प्रकृति एवं इनके राज्य से विवाद को सम्मिलित किया है। इनके अनुसार राजनीतिक समाजशास्त्र में अनुसंधान तथा सिद्धान्त की कार्य–सूची में मतैक्य एवं वैधता, सहभागिता एवं प्रतिनिधित्व तथा आर्थिक विकास एवं राजनीतिक परिवर्तन के सम्बन्ध को सम्मिलित किया जा सकता है।

1.2.2 राजनीतिक समाजशास्त्र : विषय–क्षेत्र, अभ्युदय के कारण एवं प्रकृति

विषय क्षेत्र : राजनीतिक समाजशास्त्र एक नया विषय है और फिर यह राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र से सामग्री ग्रहण करता है, इसलिए इसका पृथक् विषय–क्षेत्र निर्धारित करना एक कठिन समस्या है। यदि यह राजनीति विज्ञान की ओर झुकता है तो इसे राजनीति विज्ञान का पर्यायवाची मानने का खतरा है और यदि समाजशास्त्र की ओर झुकता है तो इसे समाज का पर्यायवाची बनने का खतरा है।

बैनडिक्स तथा लिपसेट ने राजनीतिक समाजशास्त्र के अन्तर्गत निम्नलिखित पहलुओं को सम्मिलित किया (1) समुदायों तथा राष्ट्रों में मतदान व्यवहार; (2) आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण तथा राजनीतिक निर्णयन कार्य; (3) राजनीतिक आन्दोलनों तथा हित समूहों की विचारधाराएं; (4) राजनीतिक दल, ऐच्छिक समुदाय, अल्पतन्त्र की समस्याएं तथा राजनीतिक व्यवहार के मनोवैज्ञानिक सहसम्बन्ध; (5) राजनीतिक व्यवहार से सम्बन्धित अल्पतन्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक सहसम्बन्धों की समस्याएं तथा (6) सरकार एवं नौकरशाही की समस्याएं।

ब**ाविस्कर** ने राजनीतिक समाजशास्त्र की विषय–वस्तु के अन्तर्गत निम्नलिखित बातों को समाविष्ट करने पर जोर दिया है– (1) राजनीति तथा समाज राजनीति में सामाजिक संस्थाओं की भूमिका; (2) राजनीतिक समुदाय तथा राजनीतिक संरचनाएं जैसे– पंचायतें, राजनीतिक दल, हित समूह, अभिजन, आदि; (3) राजनीतिक प्रक्रियाएं– राजनीतिक समाजीकरण राजनीतिक भर्ती, राजनीतिक सहभागिता, राजनीतिक विकास, आदि तथा राजनीतिक इतिहास का समाजशास्त्रीय विश्लेषण।

मिचेल ने राजनीतिक समाजशास्त्र के अन्तर्गत संवैधानिक एवं अनौपचारिक राजनीतिक संस्थाओं, अभिजनों, संघर्ष के आविर्भाव, नियमन, हित समूहों एवं औपचारिक दबाव समूहों, मतदान व्यवहार, राजनीतिक दलों जैसे विविध विषयों के अध्ययन पर बल दिया है।

ग्रीर तथा **आरलियन्स**– राजनीतिक समाजशास्त्र के अन्तर्गत (1) राज्य की संरचना, (2) वैधता की प्रकृति एवं दशाएं, (3) शक्ति पर एकाधिकार तथा राज्य द्वारा इसका प्रयोग, तथा (4) उप–इकाइयों की प्रकृति एवं इनके राज्य से विवाद को सम्मिलित किया है। बाद में इन दोनों विद्वानों ने उपर्युक्त विषयों को तीन शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित किया जो इस प्रकार हैं: (1) सहमति एवं औचित्य (Consesess and Legitimacy), (2) प्रतिनिधित्व एवं सहभागिता (Representation and Participation), तथा (3)

राजनीतिक परिवर्तन एवं आर्थिक प्रगति के बीच सम्बन्ध (Relationship between political change and Economic development)। **ब्रूम** तथा **सैल्जनिक** के अनुसार राजनीतिक समाजशास्त्र मुख्यतः सरकार एवं राजनीति को प्रभावित करने वाली आधारभूत दशाओं से सम्बन्धित है।

डाउस तथा **ह्यूज** के अनुसार राजनीतिक समाजशास्त्र के तात्विक सम्बन्ध के क्षेत्र हैंः सामाजिक व्यवस्था की समस्या और राजनीतिक आज्ञाकारिता।

रिचार्ड जी. ब्रोगार्ट के अनुसार राजनीतिक समाजशास्त्र गत्यात्मक संघों, राजनीति के सामाजिक स्रोतों, राजनीति की संरचना, राजप्रक्रिया तथा प्रतिवेशी समाज और संस्कृति पर राजनीति के प्रभावों, आदि को अपना अध्ययन विषय बनाता है।

उक्त चर्चित विषयों के अतिरिक्त हम राजनीतिक समाजशास्त्र के व्यापक क्षेत्र में निम्नलिखित प्रकरणों को भी सम्मिलित कर सकते हैं :

(1) राजनीतिक संरचनाएं – सामाजिक वर्ग, जाति, अभिजन, राजनीतिक दल, हित समूह, नौकरशाही, आदि।
(2) राजनीतिक प्रकार्य – राजनीतिक समाजीकरण, राजनीतिक भर्ती, हित समूहीकरण, एकीकरण और अभिनव परिवर्तन, आदि।
(3) राजनीतिक जीवन– चुनवी प्रक्रिया, राजनीतिक संचरण, मताचरण, आदि।
(4) राजनीतिक नेतृत्व– नेतृत्व और राजनीतिक संस्कृति, शक्ति और सत्ता की संरचना, आदि।
(5) राजनीतिक विकास–राजनीतिक विकास की अवधारणा, सामाजिक परिवर्तन, आधुनिकीकरण और समाजीकरण के साथ इसके सम्बन्ध।

संक्षेप में, राजनीतिक समाजशस्त्र की विषय–वस्तु के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं, राजनीतिक समुदायों, राजनीतिक व्यवहार, प्रभाव, शक्ति एवं सत्ता, राजनीतिक आन्दोलनों एवं विभिन्न राजनीतिक प्रक्रियाओं, अभिजनों, इत्यादि विविध प्रकार के चरों को सम्मिलित किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से 'राजनीतिक समाजशास्त्र' (Political Sociology) की निम्नलिखित विशेषताएं स्पष्ट होती हैं :

1. राजनीतिक समाजशास्त्र राजनीतिक और सामाजिक परिवर्त्यों से समान रूप से जुड़ा है और समान रूप से प्रभावित होता है।
2. राजनीतिक समाजशास्त्र राजनीति विज्ञान नहीं है क्योंकि इसमें राजनीति विज्ञान की तरह राज्य और शासन का ही अध्ययन नहीं होता है।
3. राजनीतिक समाजशास्त्र की अभिरूचि राजनीति में है, फिर भी यह राजनीति को परम्परागत दृष्टि से नहीं देखता है।
4. राजनीतिक समाजशास्त्र समाजशास्त्रीय राजनीति भी नहीं है क्योंकि यह समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र दोनों में अभिरूचि रखता है।
5. जहां **राजनीति का समाजशास्त्र** (Sociology of Politics) भारतीय राजनीति का विश्लेषण जातिगत समाज के परिप्रेक्ष्य में करेगा, वहां **भारतीय समाजशास्त्र** इसके साथ इस बात की भी छानबीन करेगा कि किस प्रकार भारतीय राजनीति ने जातियों का राजनीतिकरण किया है।

'राजनीतिक समाजशास्त्र' की मान्यता है कि सामाजिक प्रक्रिया और राजनीतिक प्रक्रिया में अनुरूपता है। इसी सन्दर्भ में राजनीतिक समाजशास्त्री राज्य और समाज के मध्य परम्परागत विवाद का समाधान करना चाहता है। परन्तु ऐसा होने पर भी **'राजनीतिक समाजशास्त्र'** को 'राजनीति का समाजशास्त्र' (Sociology of Politics) नहीं कहा जा सकता है। इसका कारण है कि 'राजनीति का

समाजशास्त्र' राजनीतिक परिवर्त्यों की स्वतन्त्र सत्ता एवं स्वायत्तता को अस्वीकार करता है, जबकि 'राजनीतिक समाजशास्त्र' राजनीतिक परिवर्त्यों (चरों) को मान्यता प्रदान करता है। आज **'राजनीति का समाजशास्त्र'** (Sociology of Politics) के बजाय **'राजनीतिक समाजशास्त्र'** पद ही अधिक प्रचलित है।

राजनीतिक समाजशास्त्र के अभ्युदय के कारण
(POLITICAL SOCIOLOGY : CAUSES OF ITS ORIGIN)

राजनीतिक समाजशास्त्र एक प्रगतिशील विषय (Radical discipline) है। जो राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र को जोड़ने में पुल का काम करता है। इसे प्रगतिशील विज्ञान इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह सामाजिक विभेद और सामाजिक परिवर्तन पर जोर देते हुए राजनीति के अध्ययन में अनौपचारिक और दुष्यक्रियात्मक पहलुओं के अध्ययन पर बल देता है। यह दो दूरस्थ विषयों को सम्बद्ध करते हुए राजनीति और समाज एवं राजनीतिक संरचना और सामाजिक परिवेश में घनिष्ठता स्थापित करता है।

राजनीतिक समाजशास्त्र के अभ्युदय के निम्नलिखित कारण हैं :

1. **राजनीति विज्ञान के परम्परागत उपागमों के प्रति असन्तोष**– राजनीति विज्ञान के अध्ययन के परम्परागत उपागम राजनीतिक संस्थाओं अर्थात् राज्य, सरकार, आदि के अध्ययन पर बल देते हैं। इनका झुकाव आदर्शात्मक अथवा संस्थागत अध्ययनों के प्रति था जिनसे वास्तविक राजनीतिक प्रक्रियाओं, स्थितियों एवं निर्णय निर्माण प्रक्रिया के बारे में कुछ पता नहीं चलता। इनके प्रति असंतोष ने राजनीतिक समाजशास्त्र के अभ्युदय में योगदान किया। राजनीतिक समाजशास्त्र की मान्यता है कि राजनीतिक संस्थाएं व्यक्तियों से चालित होती हैं और व्यक्तियों के व्यवहार के माध्यम से ही राजनीतिक जीवन को समझा जा सकता है, अतः वह व्यक्तियों के व्यवहार के अध्ययन को सर्वोपरि महत्व देता है।

2. **अन्तःअनुशासनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति** – परम्परागत राजनीति विज्ञान का अध्ययन अनन्यता अर्थात् अलगाव के रूप में किया जाता है और यह अपने आपको मात्र राजनीतिक क्रियाओं–प्रक्रियाओं तक सीमित कर लेता है, लेकिन राजनीतिक समाजशास्त्र की मान्यता यह है कि व्यक्ति के राजनीतिक जीवन को सामाजिक जीवन के सन्दर्भो में ही उचित रूप में समझा जा सकता है और राजनीतिक अध्ययन में अन्तः अनुशासनात्मक दृष्टिकोण (Inter-disciplinary approach) को अपनाया जाना चाहिए।

3. **राजनीति का समाजशास्त्रीय अध्ययन करने की प्रवृत्ति**– अनेक अर्वाचीन लेखकों ने जिनमें कैटलिन का प्रमुख स्थान है, राजनीति विज्ञान के क्षेत्र को एक ऐसा व्यापक रूप देने की चेष्टा की है जिसमें केवल राज्य को ही नहीं समाज को भी समाविष्ट किया जा सके। कैटलिन ने वास्तव में राजनीति का वह अर्थ लिया है जिसका प्रतिपादन अरस्तू ने किया था, इस अर्थ में उसने उसके क्षेत्र में उन सभी क्रियाओं को सम्मिलित करने की चेष्टा की है जो समाज के तत्वावधान में घटित होती रहती हैं।

4. **व्यवहारवादी उपागम का प्रचलन** – आधुनिक व्यवहारपरक उपागमों ने अपनी उत्तम अभिव्यक्ति व्यवहारवाद की प्रवृत्ति में पायी है जहां अनेक अमरीकी लेखकों ने सामाजिक और राजनीतिक प्राणी के रूप में मनुष्य के वास्तविक या प्रेक्षण योग्य व्यवहार से सम्बन्धित तथ्यों के संग्रह और उनके परीक्षण पर बल दिया है।

   व्यवहारवादी दृष्टिकोण को लोकप्रिय बनाने का श्रेय संयुक्त राज्य अमेरिका के फोर्ड फाउण्डेशन को जाता है। मानव कल्याण के कार्य क्षेत्र में समाज विज्ञानों को उपयोगी बनाने के लिए इसने एक ऐसी समिति की स्थापना की जिसने राजनीतिक यथार्थ को समझने और उसी व्याख्या करने के लिए अन्तःविषयक दृष्टिकोण का इस्तेमाल करने की सिफारिश की।

   व्यवहारवादी उपागम की नवीनता के लक्षण इसके चार व्यापक लक्ष्यों में निहित हैं– (1) सर्वप्रथम, व्यवहारवादी नई किस्म की सामग्री का विश्लेषण करना चाहते हैं जिसकी ओर अभी तक ध्यान नहीं दिया

गया है। वे व्यक्तिगत और सामूहिक व्यवहार पर ध्यान केन्द्रित करके राजनीति का अध्ययन करना और यह देखना चाहते हैं कि राजनीतिक संस्थाओं में क्या हो रहा है? (2) वे एक नई रीति का समर्थन करते हैं। वे सर्वेक्षण, अनुसन्धान और प्रेक्षित सामग्री व अन्य क्षेत्रीय कार्य सम्बन्धी विषयों पर सांख्यिकी को लागू करना चाहते हैं। (3) उन्होंने सामाजिक विज्ञानों, विशेषकर समाज विज्ञान और कुछ हद तक प्राकृतिक विज्ञानों, से लिये गये व्याख्यात्मक वर्गों का आविष्कार किया है। इन संकल्पनाओं में अभिजन वर्ग, भूमिका, प्रभाव, निर्णय निर्माण, नीति निर्माण, उप–व्यवस्थाएं, संरचनाओं की रचना और उनकी कार्यविधि, राजनीतिक संस्कृति, आदि शामिल हैं और वे सभी हमारे युग के समाजशास्त्रीय साहित्य में बहुत प्रचलित हो गई हैं। ये संकल्पनाएं समसामयिक व्यवहारपरक राजनीतिक सिद्धान्त का सार हैं और वे उस प्रकार के प्रश्नों से सम्बन्धित हैं जो एक नये विषय 'राजनीतिक समाजशास्त्र' की विषय–वस्तु का निर्माण करते हैं। (4) व्यवहारवादी उपागम एकत्रित सामग्री से सामान्यीकरण करने और प्रतिमानों की रचना करने से सम्बन्धित हैं जिनके द्वारा वैज्ञानिक परिशुद्धता से राजनीतिक प्रक्रियाओं के बारे में व्याख्या की जा सकती है।

संक्षेप में, व्यवहारवादी उपागम के उपयोग के परिणामस्वरूप राजनीति विज्ञान का बहुत व्यापक विस्तार हो गया है और यह 'राजनीतिक समाजशास्त्र' बनने की ओर उन्मुख हुआ है।

5. **राज्य और समाज में घनिष्ठता** : एक जमाने में राज्य और समाज में अन्तर किया जाता था, आज दोनों के घनिष्ठ सम्बन्धों पर जोर दिया जाता है। राजनीतिक समाजशास्त्रियों की मान्यता है कि राज्य अनेक राजनीतिक संस्थाओं में से एक है और राजनीतिक संस्थाएं सामाजिक संस्थाओं के गुच्छे की ही एक कड़ी है।

राजनीतिक समाजशास्त्र : प्रकृति

(POLITICAL SOCIOLOGY : NATURE)

राजनीतिक समाजशास्त्र राजनीति विज्ञान नहीं है, क्योंकि यह राजनीति विज्ञान की तरह 'राज्य और शासन का विज्ञान' (Science of state and Government) नहीं है। यह 'राजनीति का समाजशास्त्र' भी नहीं है, क्योंकि यह कवेल सामाजिक ही नहीं राजनीति से भी समान रूप से जुड़ा है।

यद्यपि राजनीतिक समाजशास्त्र 'राजनीति' में दिलचस्पी रखता है, लेकिन यह राजनीति को एक नये दृष्टिकोण से और नये संदर्भ में देखता है। राजनीति को उस दृष्टिकोण से अलग करके देखता है जिसे परम्परावादी राजनीतिशास्त्री इसे देखते आये थे। राजनीतिक समाजशास्त्र इस मूल मान्यता पर आधारित है कि सामाजिक प्रक्रिया और राजनीतिक प्रक्रिया के बीच आकृति की एकरूपता व समरूपता विद्यमान है। राजनीतिक समाजशास्त्र 'राजनीति' और 'समाज' के मध्य अन्तःक्रिया (Interaction) का सघन अध्ययन है। यह सामाजिक संरचनाओं और राजनीतिक प्रक्रियाओं के मध्य सूत्रात्मकता (Linkages) का अध्ययन करता है। यह सामाजिक व्यवहार और राजनीतिक व्यवहार के मध्य पायी जाने वाली अन्तःक्रियात्मकता का अध्ययन है। यह हमें राजनीति को इसके सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भ में देखने का परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है।

राजनीतिक समाजशास्त्र के विश्लेषण की प्राथमिक इकाइयां सामाजिक संरचनाएं और राजनीति के सामाजिक उद्‌भव स्रोत केन्द्र (Structures of Society and social origins of Politics) सामाजिक संरचनाएं दो प्रकार की होती हैं : वृहद् और लघु। इस सवाल पर कि, क्या राजनीतिक समाजशास्त्र वृहद् और लघु दोनों तरह के समुदायों का अध्ययन करता है, दो तरह के दृष्टिकोण पाये जाते हैं। पहले दृष्टिकोण के अनुसार लघु समूह एक सुनिश्चित और सुस्थापित सामाजिक व्यवस्था के भाग होते हैं। दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार वृहत्तर समूहों जैसे वाणिज्य संघ, चर्च, व्यापारिक कम्पनी अथवा ऐसी ही अन्य गैर

सरकारी या सरकारी संगठनों के अन्दर की राजनीति सही अर्थ में राजनीतिक नहीं है। इसी दृष्टिकोण से विशद् विवेचन प्रस्तुत करते हुए ग्रीयर तथा आरलियन्स लिखते हैं कि राजनीतिक समाजशास्त्र मुख्य रूप से उस अनोखी सामाजिक संरचना जिसे 'राज्य' के नाम से जाना जाता है के वर्णन, विश्लेषण और समाजशास्त्रीय व्याख्या से सम्बद्ध है।

इसके विपरीत मार्क्स, टीटस्के, गुम्पलोविज, राजेनहोफर, ओपेनहाइमर, कैटलिन, मेरियस, लासवेल जैसे राजनीतिक समाजशास्त्री सभी तरह के सम्बन्धों में **'राजनीति'** का अस्तित्व पाते हैं। उनके विचारों का निचोड़ इस प्रकार है :

'लगभग सभी प्रकार के सम्बन्धों में राजनीति विद्यमान होती है। कालेज, परिवार और क्लब में भी विशेष रूप से राजनीति के दर्शन तब होते हैं जबकि हम एक व्यक्ति या समूह को दूसरे व्यक्ति या समूह पर अपनी इच्छा या वरीयता, उनके प्रतिरोध के बावजूद, थोपते हुए पाते हैं।' 'समूहों या वर्गों के बीच होने वाले संघर्षो में बल और शक्ति की उपस्थिति सभी प्रकार के राजनीतिक सम्बन्धों का एक अन्तर्निहित पहलू है।' 'राजनीति सम्पूर्ण समाज में व्याप्त होती है। यह प्रत्येक सामाजिक समूह, संघ, वर्ग और व्यवसाय में फैली होती है। 'यहां तक की गैर संगठित समुदायों, जनजातियों, संघों और परिवारों की राजनीति भी राजनीति होती है और राजनीति समाजशास्त्र की विषय–वस्तु होती है। 'राजनीतिक समाजशास्त्र की मूल मान्यता है कि प्रत्येक प्रकार का मानवीय सम्बन्ध राजनीतिक होता है।'

राजनीतिक समाजशास्त्र **'राजनीति'** को राज्य की बंधी सीमाओं से मुक्त कर बाहर निकालता है और इस धारणा का प्रतिपादन करता है कि राजनीति केवल राज्य में नहीं बल्कि समाज के समग्र क्षेत्र में व्याप्त रहती है। राजनीतिक समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में राजनीति केवल 'राजनीतिक' नहीं रह जाती है, यह गैर राजनीतिक और सामाजिक भी हो जाती है और इस प्रकार राजनीति के गैर–राजनीतिक और सामाजिक प्रकृति के प्रकाश में राजनीतिक समाजशास्त्र उस खाई को पाटने का प्रयास है जो समाज और राज्य के बीच काफी समय से चली आ रही थी। इस प्रकार राजनीतिक समाजशास्त्र सामाजिक प्रक्रिया और राजनीतिक प्रक्रिया में तादाम्य स्थापित करने का प्रयास है।

राजनीति समाजशास्त्र शक्ति की दृश्यसत्ता (Phenomenon of Power) को अपना प्रमुख प्रतिपाद्य विषय मानता है और यह स्वीकार नहीं करता कि शक्ति राज्य का एकमात्र एकाधिकार है। इसके बदले यह मानता है कि समाज के प्राथमिक और द्वितीयक समूह सम्बन्धों में शक्ति संक्रियाशील होती है। राजसमाजशास्त्री की दृष्टि में शक्ति न केवल आवश्यक रूप से सामाजिक है बल्कि सम्बन्धात्मक और परिणामात्मक अथवा मापनीय भी है। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी भी शक्ति सम्बन्ध में शक्ति धारक की तुलना में शक्ति प्रेषिती कम महत्वपूर्ण नहीं है। समाजशास्त्र तार्किक–वैधिक सत्ता (rational-legel authority) के लिए अपनी सुस्पष्ट वरीयता व्यक्त करता है। तार्किक–वैधिक सत्ता सुविचारित रूप से निर्मित और व्यापक स्तर पर स्वीकृत नियमों से कठोर रूप से बंधी होती है।

राजनीतिक समाजशास्त्री आधुनिक समाज में न केवल असीमित शक्ति के प्रयोग को असम्भव मानता है, बल्कि यह भी स्वीकार करता है कि आधुनिक समाज में राजसत्ता कुछ हाथों में सिमटी रहती है। इसकी यह भी मान्यता है कि समाज में राजशक्ति का असमतल बंटवारा ठीक उसी तरह होता है जिस तरह से समाज में संसाधनों का बंटवारा असमतल होता है और इस असमतल बंटवारे को व्यापक जनादेश के आधार पर प्राप्त सहमति और सर्वसम्मत्ति के माध्यम में वैधिक, औचित्यपूर्ण और स्थायी बनाया जाता है। स्थायित्व प्राप्त और औचित्यपूर्ण शक्ति सम्बन्धों के इसी सामान्य प्रतिरूप की पृष्ठभूमि में राजनीतिक समाजशास्त्र कुछ नितान्त आवश्यक प्रासंगिक प्रश्नों और समस्याओं पर विचार करता है। उदाहरण के लिए, राजनीतिक समाजशास्त्र नौकरशाही का अध्ययन नीतियों को लागू करने वाले प्रकार्यो को निष्पादित करने वाले राज्य के एक अपरिहार्य यन्त्र या तन्त्र के रूप में नहीं करता बल्कि एक ऐसे

महत्वपूर्ण सामाजिक समूह के रूप में करता है जिसकी आधुनिक समाज की बढ़ती हुई विषमताओं के संदर्भ में एक बहुत बड़ी प्रकार्यात्मक आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में राजनीतिक समाजशास्त्र नौकरशाही को इसके विशिष्ट राजनीतिक संदर्भ में नहीं, इसके वृहत्तर सामाजिक संदर्भ में समझना चाहता है।

संक्षेप में, राजनीतिक समाजशास्त्र इस बात की परीक्षा करने में अभिरूचि रखता है कि राजनीति सामाजिक संरचनाओं को और सामाजिक संरचनाएं राजनीति को कैसे प्रभावित करती हैं।

1.3 राजनीतिक समाजशास्त्र के विशेष उपागम :

राजनीतिशास्त्र में परम्परागत रूप से राज्य–व्यवस्था का ही अध्ययन किया जाता रहा है। राज्य–व्यवस्था के अध्ययन से अभिप्राय संविधान (लिखित एवं अलिखित) के विभिन्न अनुच्छेदों, सरकार द्वारा पारित अधिनियमों तथा संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त संस्थाओं के विश्लेषण से है। इसके साथ ही, राजनीतिशास्त्र में स्थानीय समुदायों एवं समाजों के अध्ययन में रूचि की एक लम्बी परम्परा होने के कारण राज्य–व्यवस्था का अध्ययन भी इन्हीं के संदर्भ में किया जाता रहा है तथा बाह्य (अस्थानीय) राजनीतिक व्यवस्थाओं का उल्लेख यदा–कदा केवल संदर्भ के लिए ही किया जाता रहा है।

उपागम किसी परिस्थिति या वस्तु–स्थिति के बारे में प्रकट अथवा प्रच्छन्न मान्यताओं का संघात होता है जोकि वैज्ञानिक अध्ययन का आधार बनता है। यह एक बौद्धिक रचना (Intellectual construct) की प्रकृति की अवधारणा होती है जिसके द्वारा किसी सामाजिक अथवा भौतिक परिस्थिति का विश्लेषण किया जा सकता है। ये परिस्थितियाँ वास्तविक अथवा प्राक्कल्पनात्मक हो सकती हैं। इसे किसी समस्या का अध्ययन करने की विधि अथवा उपाय (Streategy) भी कहा जा सकता है जिसके आधार पर उस समस्या का विश्लेषण किया जा सके। राजनीतिक समाजशास्त्र में विभिन्न राजनीतिक स्थितियों, प्रक्रियाओं अथवा चरों का अध्ययन कई उपागमों (जैसे आदर्शात्मक, संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक, व्यवस्थात्मक, व्यवहारात्मक तथा संघर्षात्मक आदि) द्वारा किया जाता है तथा प्रत्येक उपागम उस विशिष्ट समस्या (जिसका कि इसके द्वारा अध्ययन किया जा रहा है) के किसी विशेष पहलू पर अधिक बल देता है। कुछ विद्वानों (जैसे डेविस तथा लुइस) ने इन उपागमों को प्रतिरूप भी कहा है। समस्या के अध्ययन के लिए कुछ सैद्धान्तिक कल्पनाओं का निर्माण किया जाता है जिनसे अगर वास्तविक इकाई के सम्पूर्ण व्यवहार को नही ंतो कम से कम उसकी प्रमुख विशेषताओं का तो पता चल जाता है, उन्हें ही प्रतिरूप कहा जा सकता है। डेविस तथा लुइस (Davies & Lewis) के शब्दों में, "प्रतिरूप किसी इकाई के व्यवहार के बारे में आनुभविक सिद्धान्त बनाने के लिए निर्मित कुछ सैद्धान्तिक कल्पनाएँ हैं।"

राजनीतिक समाजशास्त्र में प्रयुक्त किये जाने वाले उपागमों को, एस.पी. वर्मा के अनुसार दो श्रेणियाँ में विभाजित किया जा सकता है :

(अ) वैधानिक–ऐतिहासिक अथवा आदर्शात्मक उपागम; तथा

(ब) आनुभविक विश्लेषणात्मक अथवा वैज्ञानिक व्यवहारात्मक उपागम।

प्रथम श्रेणी के उपागमों में इस मान्यता को महत्व दिया जाता है कि राजनीति का अध्ययन वैधानिक ढंग से नहीं किया जा सकता अतः इसका प्रयास ही नहीं किया जाना चाहिये। आदर्शात्मक उपागम इस श्रेणी का प्रमुख उदाहरण है जिसका प्रचलन राजनीतिशास्त्र से प्रभावित राजनीतिक समाजशास्त्रियों में रहा है। द्वितीय श्रेणी के उपागमों के साथ यह मान्यता जुड़ी हुई है कि तथ्यों पर आधारित राजनीति का विज्ञान सम्भव है तथा राजनीति विश्वासों एवं मनोवृत्तियों तक का आनुभविक एवं तटस्थ रूप से अध्ययन किया जा सकता है। संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक, व्यवस्थात्मक, व्यवहारात्मक तथा संघर्षात्मक उपागम दूसरी श्रेणी के उपागमों के प्रमुख उदाहरण हैं।

1.3.1 आदर्शात्मक उपागम :

आदर्शात्मक अथवा मानवीय उपागम, जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, आनुभविक अध्ययनों पर बल न देकर आदर्शो, प्रतिमानों अथवा संस्थाओं के अध्ययन पर बल देता है। राजनीतिशास्त्र में 'आदर्श' शब्द का प्रयोग दो अर्थो में किया जाता है– प्रथम, राजनीतिशास्त्र प्रमुख रूप से विभिन्न प्रकार के आदर्शो या प्रतिमानों से सम्बन्धित है तथा द्वितीय, राजनीतिशास्त्र इस अर्थ में भी आदर्शवादी है कि यह शासकों तथा नागरिकों को उनके व्यवहार के बारे में सलाह भी देता है। मुख्य रूप से आदर्शो, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों, व्यक्तियों तथा राज्यों के अधिकारों तथा निर्णायकों (Decision-makers) को सलाह देने से सम्बन्धित होने तथा नियम–निर्माण की समस्या को एक पृथक् दृष्टिकोण प्रदान करने के कारण इस परम्परागत उपागम को कभी–कभी भावमूलक (Ideographic) उपागम भी कहा गया है।

आदर्शात्मक उपागम निगमनात्मक पद्धति पर आधारित है क्योंकि इसमें कुछ आधार–वाक्यों (Premises) को केन्द्र–बिन्दु मानकर अध्ययन किया जाता है तथा इन आधार–वाक्यों को तर्क की प्रक्रिया द्वारा राज्य, शासन, राजनीतिक संस्थाओं अथवा नागरिकों के राजनीति व्यवहार लागू करके इनसे सम्बन्धित 'सिद्धान्त' बनाने का प्रयास किया जाता है। प्रारम्भ में राजनीतिशास्त्र इतिहास, नीतिशास्त्र (Ethics), दर्शनशास्त्र तथा विधिविज्ञान (Law) से अत्यधिक प्रभावित था। अतः प्लेटो से लेकर वर्के तक विभिन्न विद्वानों ने इस प्रभाव के कारण इतिहास, दर्शनशास्त्र एवं विधिविज्ञान के आधार–वाक्यों का प्रयोग राजनीतिक, सिद्धान्त बनाने के लिये किया, इसी कारण आदर्शात्मक उपागम को ही राजनीतिक स्थितियों के अध्ययन में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया क्योंकि इस उपागम द्वारा किये जाने वाले अध्ययन में राजनीतिक वास्तविकता की उपेक्षा की जाती है अतः यह आनुभविक एवं वैज्ञानिक अध्ययनों में सहायक नहीं होता। प्लेटो, अरस्तू, कान्त, हीगेल, फिक्टे, ग्रीन, बैडले, थॉमस मोर, बोसांके तथा सिजविक इत्यादि विद्वानों ने इस उपागम को समर्थन प्रदान किया है। इन विद्वानों का विचार है कि सभी सामाजिक विज्ञान आदर्शात्मक होते हैं; इसलिए आदर्शात्मक उपागम ही इन विज्ञानों में अध्ययन का प्रमुख उपागम होना चाहिए। इन चिन्तकों का यह भी विचार है कि राजनीति में तथ्य तथा मूल्य इस प्रकार आपस में जुड़े हुए होते हैं कि इनको एक–दूसरे से भिन्न करना अत्यन्त कठिन कार्य है। राजनीति के बारे में कोई भी विस्तृत सिद्धान्त राजनीतिक स्थितियों के नैतिक मूल्यों तथा उनके मूल्यांकन के बिना नहीं बनाया जा सकता, अतः राजनीति के बारे में पूर्ण वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त के बारे में सोचना भी केवल एक भ्रम है।

आदर्शात्मक उपागम के समर्थकों का कहना है कि राजनीति के अध्ययन का एक विशेष उद्देश्य है और यह उद्देश्य ठीक प्रकार से कार्य करने, सबसे अच्छे का चयन करने तथा साथियों के साथ अच्छी तरह रहने के योग्य क्षमताओं का विकास करना है। इस सब में अच्छे–बुरे तथा मूल्यांकन का सहारा लेना पड़ता है। इन विद्वानों ने यह विचार भी प्रस्तुत किया है कि विज्ञान का अर्थ विस्तृत रूप में लिया जाना चाहिए तथा मूल्य–निर्णयों (Value judgements) को भी विज्ञान में ही सम्मिलित किया जाना चाहिए।

संक्षेप में आदर्शात्मक उपागम की निम्नांकित प्रमुख मान्यताएं हैं :

1. सभी सामाजिक विज्ञान आदर्शात्मक होते हैं, अतः हमें केवल आदर्शो, प्रतिमानों अथवा संस्थाओं का ही अध्ययन करना चाहिए।
2. मूल्यों से सम्बन्धित होने के कारण राजनीति का आनुभविक अध्ययन करना और वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त का निर्माण करना सम्भव नहीं है।
3. राजनीति के अध्ययन का एक निश्चित उद्देश्य शासकों एवं नागरिकों को उनके आदर्श व्यवहार के बारे में सलाह देना है।
4. यह काल्पनिक विचारधारा अथवा आधार–वाक्यों पर आधारित है तथा निगमनात्मक पद्धति पर बल देता है।

प्रथमतः प्लेटो तथा अरस्तू ने आदर्शात्मक उपागम तथा इसकी सहायता से अध्ययन करने को मान्यता प्रदान की। दोनों राज्य को एक अनिवार्य, आत्म–निर्भर तथा सर्वोच्च नैतिक संस्था मानते हैं। इन्होंने राज्य तथा समाज में किसी प्रकार का भेद न करते हुए इस बात पर बल दिया कि राज्य ही सब कुछ है तथा राज्य से पृथक् होकर मनुष्य आदर्श जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। अरस्तू ने राज्य की तुलना मानव शरीर से की है। जैसे शरीर से पृथक् अंग का कोई अस्तित्व नहीं, ठीक उसी प्रकार राज्य से पृथक् मनुष्य का कोई अस्तित्व नहीं। राज्य का विकास सर्वप्रथम मनुष्य के जीवन के कारण ही हुआ परन्तु आज राज्य व्यक्तियों के जीवन की रक्षा करने के लिए विद्यमान है। राज्य का उद्देश्य नागरिकों में नैतिक व्यक्तित्व का विकास करना है। इस प्रकार राजनीति में नैतिकता का प्रवेश तथा इसे आदर्शो एवं प्रतिमानों द्वारा समझने का श्रेय प्लेटो और अरस्तू को ही दिया जाता है। इनका विचार था कि नैतिक जीवन तथा नागरिक स्वतंत्रता राज्य द्वारा ही सम्भव होती है।

प्लेटो तथा अरस्तू के विचारों को आगे बढ़ाने का श्रेय रूसों को दिया जाता है। इन्होंने भी राज्य की तुलना एक सावयव से की है तथा राज्य का सामान्य लक्ष्य 'सार्वजनिक कल्याण' करना बताया है। रूसों के अनुसार, राज्य में रहकर ही मानव का बौद्धिक एवं अध्यात्मिक विकास सम्भव है। कान्त तथा हीगेल ने भी राज्य को एक आदर्श संस्था माना है। इनके अनुसार नागरिकों का कर्त्तव्य राज्य की सेवा करना है न कि सत्ता के विरूद्ध क्रान्ति करना। कान्त व्यक्तिगत स्वतंत्रता के सबल विरोधी नहीं थे, परन्तु इनका कहना था कि स्वतंत्रता से अभिप्राय सार्वजनिक हित में कार्य करना है न हि अपनी इच्छानुसार कार्य करना। हीगेल ने आदर्शवाद को और अधिक उग्र प्रदान करते हुए यह कहा है कि राज्य पृथ्वी पर ईश्वर का अवतरण है। राज्य क्योंकि ईश्वरीय देन है इसलिए गलती नहीं कर सकता। राज्य सर्वशक्तिशाली है तथा इसकी ही इच्छा व्यक्तियों की सही इच्छा है। ग्रीन ने यद्यपि राज्य को एक स्वाभाविक तथा आवश्यक वस्तु माना है, फिर भी, वे इसे निरंकुश बनाने के पक्ष में नहीं थे, इसलिए इन्होंने राज्य पर नियंत्रण लगाने का समर्थन किया।

आदर्शात्मक उपागम व्यक्तियों, समूहों तथा व्यक्तियों द्वारा निर्मित संस्थाओं के व्यवहार के अध्ययन से अधिक उपयोगी नहीं है। **प्रथम,** इसमें वास्तविकता का अध्ययन न करके केवल आदर्शो तथा मान्यताओं को ही महत्व दिया जाता है। आनुभविक न होने के कारण इसकी तुलनात्मक उपयोगिता भी सीमित है। **दूसरे,** वास्तव में यह उपागम काल्पनिक विचारधारा अथवा आधार–वाक्यों पर बल देता है जिनका मानव समाज में यथार्थ राजनीतिक व्यवहार से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए व्यवहारिक जीवन में इसकी कोई उपयोगिता नहीं है। **तीसरे,** इस उपागम के समर्थक राज्य तथा समाज को एक ही संस्था मानते हैं जोकि वास्तव में ठीक नहीं है। आज यह स्पष्ट हो चुका है कि राज्य तथा समाज दो भिन्न तत्व हैं। साथ ही, राज्य को सर्वसत्ताधारी मानना तथा इसको सर्वोच्च स्थान देना भी उचित नहीं है। राज्य को पूर्ण और दोषरहित मानना भी भ्रामक है।

आदर्शात्मक उपागम को यद्यपि राजनीतिक समाजशास्त्र में एक ऐसा पारस्परिक उपागम माना गया है जिसकी आज कोई अधिक उपयोगिता नही रह गई है, फिर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि प्लेटो तथा हीगेल जैसे महान् विचारकों की कृतियाँ आज भी आधुनिक राजनीतिक समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र के पठन–पाठन में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। यह भी नहीं समझना चाहिए कि इस उपागम द्वारा राजनीतिक तथ्यों का परीक्षण किये बिना ही निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। एलेन बाल के अनुसार प्लेटो की 'दार्शनिक शासक' की खोज तथा हॉब्स के 'लिवेथान' का उतना ही महत्व है जितना कि अरस्तू के ग्रीक नगर–राज्यों के संविधान के विशद् संकलन का अथवा मैकियावली के उस राजनीतिक परामर्श का, जो उसने राजनीतिक तथ्यों के परीक्षण व इटली की पुनर्जागरण–कालीन राज्यों की सरकारों में भाग लेने के बाद दिया था। इतना ही नहीं, आदर्शवादी विचारकों ने जिन प्रश्नों को उठाया है, वे आज भी

महत्वपूर्ण हैं। इन सबके बावजूद बहुत अंशों में यह सत्य है कि आदर्शात्मक उपागम वैज्ञानिक अध्ययनों में अधिक सहायक नहीं होता।

1.3.2 संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक उपागम :

राजनीतिशास्त्र में प्रचलित आदर्शात्मक–दार्शनिक अथवा मानकीय उपागम तथा समाजशास्त्र में प्रचलित उद्विकासीय एवं ऐतिहासक उपागमों की खामियों (सीमाओं) को दूर करने के प्रयासों के परिणामस्वरूप राजनीतिक समाजशास्त्र में राजनीतिक व्यवहार का आनुभविक रूप से अध्ययन करने के लिए अनेक अन्य उपागम प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें से एक संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक उपागम है। इस उपागम के बारे में यद्यपि प्रारम्भिक विचार प्रस्तुत करने का श्रेय हरबर्ट स्पेन्सर को है, फिर भी समाजशास्त्र में इसका अत्यधिक प्रयोग करने का श्रेय इमाइल दुर्खीम, रॉबर्ट, के. मर्टन, टालकट पारसंस तथा मेरियन जे.लेवी जैसे विद्वानों को दिया जा सकता है। राजनीतिक व्यवस्थाओं के विश्लेषण के संदर्भ में राजनीतिक समाजशास्त्र में इसका प्रयोग गोब्रियल आमण्ड, डेविड आप्टर तथा विलियम सी. मिचेल ने किया है।

संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक उपागम द्वारा किसी इकाई का विश्लेषण उसकी संरचना तथा प्रकार्यो के आधार पर किया जाता है। सभी व्यवस्थाओं की संरचनाओं में अनेक घटक (अंग) या तत्व होते हैं जिनसे उन्हें पहचाना जा सकता है और ये अंग विभिन्न भूमिकाएं निभाते हुए सम्पूर्ण व्यवस्था को बनाये रखते हैं। इस उपागम में व्यवस्था को एक सन्तुलन के रूप में माना जाता है जिसके विभिन्न अंग अन्योन्याश्रित हैं तथा किसी एक अंग में परिवर्तन अन्य अंगों को भी प्रभावित करता है। इस उपागम द्वारा किसी व्यवस्था के विभिन्न अंगो, उनमें पाये जाने वाले परस्पर सम्बन्धों एवं उनके प्रकार्यो या भूमिकाओं का विश्लेषण किया जाता है। यह उपागम विभिन्न व्यवस्थाओं की तुलना करने में भी सहायक है।

डेहरेनडोर्फ (Dahrendorf) के अनुसार इस उपागम की चार प्रमुख मान्यताएँ हैं :

1. प्रत्येक समाज तत्वों की अपेक्षाकृत स्थायी एवं सतत् (Persistent) संरचना है।
2. प्रत्येक समाज तत्वों की सुव्यवस्थित समाकलनात्मक संरचना है।
3. समाज के प्रत्येक तत्व का कुछ न कुछ प्रकार्य होता है अर्थात् यह इसे एक व्यवस्था के रूप में बनाये रखने में योगदान प्रदान करता है।
4. प्रत्येक प्रकार्यात्मक सामाजिक संरचना अपने सदस्यों के मूल्यों में मतैक्य (Consensus) पर आधारित है।

राजनीतिक विश्लेषण की एक विधि के रूप में संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक उपागम इस तथ्य पर बल देता है कि सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं की एक राजनीतिक संरचना होती है जोकि व्यवस्था की अन्य संरचनाओं से स्पष्ट रूप से पृथक् होती है। राजनीतिक व्यवस्था को अन्य व्यवस्थाओं से अवधारणात्मक दृष्टि से पृथक् किया जा सकता है क्योंकि इसे रोजगार अथवा रोजगार के बारे में धमकी, कम या अधिक वैधानिक भौतिक बाध्यता के साधनों द्वारा समाकलन एवं अनुकूलन, प्रकार्यो (समाजांतर्गत तथा समाज–बाह्य) को पूरा करने वाली इकाई के रूप में देखा जाता है। संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक विश्लेषण इस बात पर बल देता है कि राजनीतिक व्यवस्था को निरन्तरण पर्यावरण से चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। राजनीतिक समाजशास्त्र में आमण्ड ने इस उपागम का प्रयोग शास्त्रीय रूप में किया है।

आमण्ड (Almond) का संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक विश्लेषण :

संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक उपागम द्वारा राजनीतिक व्यवस्थाओं के विश्लेषण का सर्वाधिक सफल प्रयास गेब्रियल आमण्ड ने किया है, अतः इस उपागम को स्पष्ट रूप से इनके विश्लेषण द्वारा समक्षा जा सकता है। आमण्ड ने संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक उपागम द्वारा राजनीतिक व्यवस्थाओं का विश्लेषण दो

उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किया–प्रथम, वह एक ऐसा सिद्धान्त बनाना चाहते थे जो राजनीति व्यवस्थाओं की एक प्रकार से दूसरे प्रकार में परिवर्तन की व्याख्या कर सके तथा द्वितीय, राजनीतिक व्यवस्थाओं का वर्गीकरण करना। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उनका उद्देश्य (1) राजनीतिक विकास का सिद्धान्त बनाना, तथा (2) तुलनात्मक राजनीति के विज्ञान का विकास करना था।

आमण्ड के अनुसार प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में चार प्रमुख संरचनाएँ पायी जाती हैं जिन्हें अन्तःक्रियाओं की औचित्यपूर्ण प्रकृति के रू‍प में परिभाषित किया जा सकता है। प्रथम, इन संरचनाओं में से कुछ संरचनाएँ अधिक विशेषीकृत होती हैं अर्थात् वे अन्य की अपेक्षा कम प्रकार्यो का निष्पादन करती है; द्वितीय, सभी राजनीतिक व्यवस्थाएँ एक समान राजनीतिक भूमिकाएँ निभाती हैं, चाहे इनकी संरचनाओं में कितना भी अन्तर क्यों न हो; तृतीय, विभिन्न राजनीतिक संरचनाएं बहु–प्रकार्यात्मक (Multi-functional) होती हैं अर्थात् अनेक प्रकार की भूमिकाएँ निभाती हैं; तथा चतुर्थ, क्योंकि सभी राजनीतिक संरचनाओं में संस्कृति पायी जाती है, इसलिये व्यवस्था विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों से निरन्तर प्रभावित होती रहती है तथा संस्कृतियों में आधुनिकता और परम्परा का मिश्रण पाया जाता है।

सभी राजनीतिक व्यवस्थाएँ, चाहे वे किसी भी प्रकार की हों; अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए तथा इसमें संतुलन बनाये रखने के लिए कुछ विशिष्ट प्रकार्यो का निष्पादन करती हैं। ये कार्य व्यवस्था की प्रकार्यात्मक पूर्वापेक्षा कहलाते हैं। विभिन्न राजनीति व्यवस्थाओं में इन प्रकार्यो का निष्पादन विभिन्न प्रकार की संरचनाओं द्वारा किया जाता है जिनमें से हो सकता है कि कुछ संरचनाएँ ऐसी हों जिन्हें मूलतः राजनीतिक नहीं माना जा सकता। आमण्ड का कहना है कि राजनीतिक व्यवस्थाओं की तुलना केवल मात्र इनकी संरचनाओं की तुलना ही नहीं है क्योंकि हो सकता है कि (1) इन संरचनाओं द्वारा सभी आवश्यक प्रकार्यो का निष्पादन न हो अथवा (2) वे उन प्रकार्यो का निष्पादन नहीं कर पा रही हों जिन्हें वे पहले कभी कर रही थीं तथा इन्हें अब एवजी या पूरक संरचनाएँ (Substitute structures) पूरा कर रही हों।

अतः तुलना के लिए संरचनाओं की अपेक्षा प्रकार्यो का विश्लेषण करना चाहिये जो सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में समान रूप में पाये जाते हैं अर्थात् प्रश्न इस प्रकार से पूछा जाना चाहिये कि अगर अमुक प्रकार्यो का निष्पादन किया जाना है, तो कौन सी क्रिया–विधि (Machanism) वास्तव में उन प्रकार्यो को निष्पादित कर रही है? दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि आमण्ड संरचनाओं से अध्ययन प्रारम्भ करके उनके प्रकार्यो का पता लगाने के पक्ष में नहीं नहीं थे अपितु इसके विपरीत प्रकार्यो से उन संरचनाओं को खोजने के पक्ष में थे जिनके द्वारा इन प्रकार्यो का निष्पादन किया जाता है।

आमण्ड प्रेक्षण–योग्य राजनीतिक यांत्रिकताओं के अध्ययन पर अधिक बल न देकर उन क्षेत्रों से अध्ययन की शुरूआत पर बल देते हैं जो व्यवस्थाओं की प्रकार्यात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति से वास्तव में सम्बन्धित है। राजनीतिक व्यवस्थाओं की तुलना प्रकार्यो को निष्पादित किये जाने वाले तरीकों से की जा सकती है। इनका विचार है कि प्रत्येक व्यवस्था दो प्रकार के कार्यो का निष्पादन करती है–**आगत या निवेशन** (Input) सम्बन्धी तथा **निर्गत या निर्गतन** (Output) सम्बन्धी प्रकार्य। राजनीतिक व्यवस्था, विभिन्न भूमिकाओं, संरचनाओं तथा उप–व्यवस्थाओं से निर्मित होती है जिसमें अन्तःक्रियाएँ कर्त्ताओं के मनोवैज्ञानिक झुकाव तथा विशेषताओं द्वारा प्रभावित होती हैं। इसके अतिरिक्त, प्रक्रिया का अध्ययन पर्यावरण के सन्दर्भ में किया जा सकता है। पर्यावरण से उत्पन्न निवेशन अथवा राजनीतिक व्यवस्था के अन्दर विकसित निवेशन अथवा निवेशन प्रकार्यो के निर्गतन प्रकार्यो में परिवर्तन के रूप में इस प्रक्रिया की तुलना की जा सकती है। निर्गतन प्रकार्य भी कालान्तर में पर्यावरण में परिवर्तन करके राजनीतिक व्यवस्था के लिए नवीन माँगों को विकसित करते हैं तथा इसे पुनर्भरण या पुनर्निवेशन (Feedback) कहा जाता है।

इसी पुनर्निवेशन की धारणा से राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन एवं विकास का अध्ययन करना सम्भव है। आमण्ड ने अपने विश्लेषण में चार निवेशन तथा तीन निर्गतन प्रकार्यो का उल्लेख किया है :

(अ) <u>निवेशन प्रकार्य</u> :

1. राजनीतिक समाजीकरण एवं भर्ती (Political socialization and recruitment)
2. हित संधियोजन (Interest articulation)
3. हित एकत्रीकरण (Interest aggregation)
4. राजनीतिक संचार (Political communication)

(ब) <u>निर्गतन प्रकाय</u> :

1. कानून–निर्माण (Rule-making)
2. कानून–प्रयोग (Rule-application)
3. कानून–निर्धारण (Rule-adjucation)

आधुनिक पश्चिमी राजनीतिक व्यवस्थाओं के संदर्भ में विवेचना करते हुए आमण्ड ने यह विचार प्रकट किया है कि निवेश्न प्रकार्यो का निष्पादन राजनीतिक व्यवस्था की गैर–सरकारी उप–व्यवस्थाओं, समाज तथा सामान्य पर्यावरण, हित–समूहों, स्कूलों, राजनीति दलों, समाचार–पत्रों आदि द्वारा होता है, जबकि इसके विपरीत निर्गतन सम्बन्धी प्रकार्यो का निष्पादन सरकार तथा उसके अधिकारीतंत्र द्वारा किया जाता है। निवेशन की धारणा को विकसित करके आमण्ड ने यह सिद्ध कर दिया कि राजनीतिक व्यवस्था एक बन्द व्यवस्था नहीं है क्योंकि यह पर्यावरण तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से निरन्तर प्रभावित होती रहती है। निवेशन सम्बन्धी प्रकार्यो, विशेष रूप से राजनीतिक समाजीकरण तथा राजनीतिक संचार का उद्देश्य राजनीतिक मूल्यों का विस्तारीकरण है।

जिन यन्त्रों अथवा तरीकों से राजनीतिक व्यवस्था निवेशन प्रकार्यो को निर्गतन प्रकार्यो में परिवर्तित करती है; उसे आमण्ड परिवर्तन–प्रक्रिया (Conversion mechanism) कहता है। राजनीतिक व्यवस्था की क्षमताओं का ज्ञान इस बात से हो सकता है कि वह निवेशन सम्बन्धी प्रकार्यो का सामना कैसे करती है। क्षमताओं का विश्लेषण आनुभविक रूप में किया जा सकता है तथा निर्गतनात्मक विश्लेषण भी इसमें सहायक हो सकता है। राजनीतिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन नवीन माँगों द्वारा हो सकता है तथा इन नवीन माँगों के तीन स्रोत हैं : (1) राजनीतिक व्यवस्था के भीतर पाये जाने वाले संभ्रांतजन, (2) पर्यावरण में पाये जाने वाले विभिन्न सामाजिक समूह; तथा (3) अन्य राजनीतिक व्यवस्थाएँ। आमण्ड के अनुसार, वह राजनीतिक व्यवस्था अधिक स्थायी होगी जिसमें निवेशन प्रकार्यो को इस ढंग से परिवर्तित कर दिया जाता है कि वे स्वयं राजनीतिक व्यवस्था पर कोई दबाव नहीं डालते अर्थात् निवेशन एवं निर्गतन प्रकार्यो में सामंजस्य व्यवस्था को अधिक स्थायित्व प्रदान करता है।

आमण्ड का संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक विश्लेषण यद्यपि तुलनात्मक अध्ययनों, वास्तविक व्यवहार तथा व्यवस्थाओं को समझने में काफी उपयोगी सिद्ध हुआ है और इस उपागम में राजनीतिशास्त्रियों एवं राजनीतिक समाजशास्त्रियों ने आनुभविक तथा व्यवहारवादी दृष्टिकोण को प्रोत्साहन दिया है, फिर भी इसमें संरचनात्मक– प्रकार्यात्मक उपागम की सामान्य सीमाएँ स्पष्ट देखी जा सकती हैं। **प्रथम,** यह उपागम केवल एक पक्ष अर्थात् समाकलन या संतुलन पर अधिक बल देता है तथा इसीलिए इसके द्वारा किए गये अध्ययनों से राजनीतिक व्यवस्थाओं में पाये जाने वाले संघर्ष का पता नहीं चल पाता। **द्वितीय,** इस उपागम से राजनीतिक जीवन के अनेक पहलुओं, विशेष रूप से प्रभाव, शक्ति एवं सत्ता से सम्बन्धित पहलुओं का अध्ययन नहीं किया जा सकता। **तृतीय,** यह उपागम राजनीतिक व्यवस्थाओं का सम्पूर्ण विश्लेषण करने में सहायक नहीं है क्योंकि इसमें प्रकार्यात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली

संरचनाओं पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। **चतुर्थ,** राजनीतिक संरचना तथा उसके द्वारा निष्पादित प्रकार्यो में सम्बन्ध कई बार भ्रामक हो सकता है। **पंचम,** यह एक जटिल उपागम है जिसका प्रयोग सभी प्रकार की परिस्थितियों के विश्लेषण के लिए नहीं किया जा सकता। इन सभी सीमाओं के बावजूद आमण्ड का विश्लेषण राजनीतिक समाजशास्त्र में राजनीतिक व्यवस्थाओं का विश्लेषण करने में काफी उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसका अधिकतर प्रयोग अभी तक केवल पश्चिमी राजनीतिक व्यवस्थाओं को समझने के लिए ही किया गया है। अतः इसका मूल्यांकन अन्य व्यवस्थाओं के विश्लेषण में भी किया जाना चाहिए।

1.3.3 व्यवस्थात्मक उपागम (System Approach) :

व्यवस्थात्मक उपागम का विकास द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् विभिन्न सामाजिक विज्ञानों में बढ़ते हुए सहयोग का परिणाम है। व्यवस्था का संप्रत्यय भौतिक विज्ञानों एवं संचार विज्ञानों से लिया गया है। प्रथमतः इसे नृविज्ञान (मानवशास्त्र) में तथा बाद में समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीतिशास्त्र तथा राजनीतिक समाजशास्त्र में अपनाया गया। नृविज्ञान तथा समाजशास्त्र में इस उपागम के साथ इमाइल दुर्खीम, ए.आर. रेडक्लिफ–ब्राउन, ब्रोनिस्ला मेलिनोवस्की, रॉबर्ट के. मर्टन तथा टालकट पारसंस के नाम जुड़े हुए हैं जबकि राजनीतिशास्त्र तथा राजनीतिक समाजशास्त्र में डेविड ईस्टन, गेब्रियल आमण्ड, मोरटोन कापलान को इस उपागम से जोड़ा जाता है। इसके समर्थक मानव सम्बन्धों को स्थायी प्रतिमानों की व्यवस्था मानते हैं जो कि हर स्थान पर पायी जाती है। आधुनिक राजनीतिक समाजशास्त्र की यह मान्यता है कि राजनीतिक क्रियाओं तथा इनके प्रभाव का अध्ययन केवल राज्य की धारणात्मक सीमा तक ही सीमित नहीं है अपितु सर्वव्यापकता के कारण गैर–राजनीतिक संस्थाओं तथा संरचनाओं की क्रियाओं में भी इनका प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। अतः आज 'राजनीति' शब्द का प्रयोग किसी विशेष संस्थानिक परिवेश में न कर सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के परिवेश में किया जाने लगा है तथा राजनीति को एक व्यवस्था मानने का विचार राजनीतिक समाजशास्त्र में मान्य हो गया है।

कन्साइस ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में व्यवस्था शब्द की परिभाषा दो संदर्भो में दी गई है–**प्रथम,** 'व्यवस्था एक जटिल समष्टि या सम्बन्धित वस्तुओं अथवा भागों का एक कुलक या भौतिक अथवा अभौतिक वस्तुओं का संगठित निकाय है; तथा **द्वितीय,** 'व्यवस्था प्रणाली, संगठन तथा कार्य–पद्धति और वर्गीकरण के निर्धारित सिद्धान्त का बोध कराती है। अतः व्यवस्था से एक ऐसे कुलक का बोध होता है जो संगठित है अर्थात् जिसके विभिन्न घटक या भाग परस्पर सम्बन्धित एवं अन्योन्याश्रित हैं। यह व्यवस्था किसी पर्यावरण के सन्दर्भ में कार्यरत होती है।

व्यवस्थात्मक उपागम द्वारा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के विश्लेषण तथा विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं की तुलना करने का दावा किया गया है। यद्यपि संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक उपागम की तरह व्यवस्थात्मक उपागम में भी राजनीतिक व्यवस्था के प्रकार्यो के विश्लेषण पर बल दिया जाता है, फिर भी यह पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक है तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं एवं व्यवहार के विश्लेषण में अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसमें राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन संरचनाओं के विश्लेषण की अपेक्षा अन्तःक्रियाओं एवं प्रकार्यो के विश्लेषण द्वारा किया जाता है तथा राजनीतिक व्यवस्था की निरन्तरता एवं इसमें पाये जाने वाले संतुलन पर बल दिया जाता है। इस उपागम द्वारा हमें उन दशाओं का पता चल जाता है जोकि राजनीतिक व्यवस्था के अस्तित्व को निरन्तर बनाये रखती हैं तथा इससे हम यह पता भी लगा सकते हैं कि किस प्रकार निवेशन प्रकार्य निर्गतन प्रकार्यो में और निर्गतन प्रकार्य पुनर्निवेशन प्रक्रिया द्वारा फिर से निवेशन प्रकार्यो में परिवर्तित होते हैं और व्यवस्था में संतुलन बनाये रखते है।

संक्षेप में व्यवस्थात्मक उपागम की निम्नांकित प्रमुख विशेषताएँ हैं :

1. यह संतुलन पर बल देता है अर्थात् इसके समर्थक यह स्वीकार करते हैं कि व्यवस्था के अन्दर स्वचालित यंत्र होते हैं जो कार्यो में संतुलन तथा पर्यावरण से अनुकूलन बनाये रखते हैं।
2. यह संरचनाओं के विश्लेषण की अपेक्षा कर्त्ताओं की अन्तःक्रियाओं एवं प्रकार्यो के विश्लेषण को महत्व देता है।
3. इसमें व्यवस्था की सम्पूर्णता अथवा समग्रता को स्वीकार किया जाता है तथा इसे पर्यावरण के संदर्भ में समझने का प्रयास किया जाता है।
4. किसी व्यवस्था को किन्हीं निश्चित सीमाओं द्वारा व्यक्त किया जा सकता है अथवा इन्हीं सीमाओं द्वारा विभिन्न व्यवस्थाओं में अन्तर किया जा सकता है।

डेविड ईस्टन व्यवस्थात्मक विश्लेषण :

ईस्टन व्यवस्थात्मक उपागम द्वारा राजनीतिक व्यवस्थाओं के विश्लेषकों की श्रेणी में सबसे प्रमुख विद्वान माने जाते हैं। इनके अनुसार राजनीतिक व्यवस्थाओं तथा अन्य व्यवस्थाओं में कुछ आधारभूत सामान्य विशेषताएँ पायी जाती हैं। सबसे प्रमुख विशेषता परिवर्तनों तथा कठिनाइयों का सामना करने की क्षमता है। राजनीतिक व्यवस्था अन्य व्यवस्थाओं की तरह 'स्वनियन्त्रित' व्यवस्था है अर्थात् इसमें ऐसे यन्त्र पाये जाते हैं जो परिवर्तन अथवा अन्य किसी कठिनाई के समय व्यवस्था में पुनः सामंजस्य बना देते हैं। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक व्यवस्थाओं में पर्यावरण द्वारा उत्पन्न तनाव से जूझने की क्षमता पायी जाती है। यह बात अलग है कि इस क्षमता का प्रयोग प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था एक समान रूप से नहीं कर पायी है। ईस्टन के अनुसार, राजनीतिक व्यवस्था में पुननिर्वेशन के यन्त्र पाये जाते हैं जोकि व्यवस्था को सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रकृति की सूचनाएँ देते रहते हैं। ये यन्त्र व्यवस्था में निर्णयों के प्रति उत्पन्न प्रतिक्रिया की सूचना भी देते रहते हैं।

डेविड ईस्टन ने अपनी पुस्तक **ए सिस्टम ऐनेलिसिस ऑफ पॉलिटिकल लाइफ (1965)** में राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन इस उपागम द्वारा दिया है। आप टालकट पारसंस से अत्यधिक प्रभावित रहे, जिन्होंने समाजशास्त्र में 'सामाजिक व्यवस्था' के संप्रत्यय को यथाविधि सैद्धान्तिक रूप से विकसित किया। ईस्टन के अनुसार व्यवस्थात्मक उपागम वह "विश्लेषणात्मक ढाँचा (अथवा सिद्धान्त) है जो यह व्याख्या करता है कि कोई व्यवस्था केवल अपने–आपको बनाये रखकर ही नहीं अपितु अगर आवश्यक हो तो पर्यावरण के तनाव के प्रति अपनी संरचना का अनुकूलन करके भी अपना अस्तित्व कैसे बनाये रखती है।

राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था का ही एक भाग है जो इसके सभी प्रकार्यो में किसी न किसी रूप में योगदान देती है। ईस्टन के अनुसार, राजनीतिक व्यवस्था सम्पूर्ण सामाजिक व्यवहार से ली गई कुछ अन्तःक्रियाओं अथवा प्रक्रियाओं की एक व्यवस्था है जिसके माध्यम से मूल्य–प्रधान वस्तुओं का समाज में प्राधिकृत रूप से विनियोजन होता है। प्राधिकारिक से तात्पर्य उन व्यक्तियों से है जो सत्ता में हैं तथा जो किसी भी बात को अपने निर्णयों द्वारा मनवा सकते हैं। मूल्य–प्रधान का अर्थ यहाँ विचारों एवं विश्वासों से न होकर 'टोकन ऑफ प्राइस' से है अर्थात् मूल्यों से परितोषण तथा दण्ड का बोध होता है। राजनीतिक व्यवस्था मूल्य–प्रधान वस्तुओं का विनियोजन ऐसे व्यक्तियों द्वारा करवाती है। जिनके पास सत्ता होती है।

राजनीतिक व्यवस्था के चारों सम्पूर्ण पर्यावरण पाया जाता है जोकि दो प्रकार का होता है : (1) समाज अंतर्गत तथा (2) समाजबाह्य। प्रथम प्रकार के पर्यावरण के प्रमुख तत्व समाज के अन्दर पायी जाने वाली पारिस्थितिकीय व्यवस्था, जैविकीय व्यवस्था, व्यक्तिगत व्यवस्था तथा सामाजिक व्यवस्था है जबकि

द्वितीय प्रकार के पर्यावरण अर्थात् समाजबाह्य पर्यावरण के प्रमुख तत्व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था, अन्तर्राष्ट्रीय पारिस्थितिकीय–व्यवस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक व्यवस्था है।

राजनीतिक व्यवस्था एक गतिशील एवं खुली व्यवस्था है जिस पर पर्यावरण (समाजान्तर्गत तथा समाजबाह्य) के अनेक कारक प्रभाव डालते हैं अर्थात् राजनीतिक व्यवस्था को पर्यावरण द्वारा निरन्तर चुनौतियाँ मिलती रहती हैं। ये चुनौतियाँ माँग (Demands) तथा समर्थन (Support) के रूप में होती हैं। माँग विचारों की एक अभिव्यक्ति है जिसका एक निश्चित विषय–वस्तु के सम्बन्ध में प्राधिकृत रूप से विनियोजन किया भी जा सकता है अथवा नहीं भी। माँग रखी जाने के बाद इनका जनचेतन के रूप में समर्थन होता है तथा ये माँगे मानवीय माँगों के सन्धियोजन के रूप में वृद्धि करती हैं। तत्पश्चात् ये माँगे विशिष्ट मुद्दों के रूप में गठित होकर विकसित होती हैं। अन्त में ये माँगें प्राधिकृत निर्णयों द्वारा निर्गतन अवस्था तक पहुँचती हैं। माँगों के लिए ईस्टन ने निवेशन तथा प्राधिकृत निर्णयों के लिए निर्गतन शब्दों का प्रयोग किया है।

माँगें, चाहे अधिक हों अथवा कम, राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं क्योंकि राजनीतिक व्यवस्था एक निश्चित अवधि में अनेकों माँगों को नियन्त्रित कर भी सकती है अथवा नहीं भी। राजनीतिक व्यवस्था में अपना एक यन्त्र होता है जिसके द्वारा वह माँगों को पीछे धकेल सकती है अथवा उनको उचित सीमा तक पूरा कर सकती है।

ईस्टन ने राजनीतिक व्यवस्था की चार प्रकार की नियन्त्रण की उपव्यवस्थाओं का उल्लेख किया है :

1. वे अवस्थाएँ जोकि राजनीतिक व्यवस्था की सीमाओं पर चौकीदारी का कार्य करती हैं। ये माँगों के बहाव को राजनीतिक व्यवस्थाओं में प्रविष्ट होने पर रोक लगाती हैं तथा माँगों के साथ सन्धियोजन का कार्य करती हैं।
2. राजनीतिक व्यवस्था में कुछ ऐसी सांस्कृतिक उपव्यवस्थाएँ एवं सामाजिक सांस्कृतिक आदर्श होते हैं जो माँगों की प्रभावक शक्ति की जाँच करते हैं।
3. राजनीतिक व्यवस्था संचार व्यवस्था के जाल के माध्यम से माँगों का परिसंचरण कर सकती है।
4. अन्त में राजनीतिक व्यवस्था माँगों को काट–छाँट करके एक विशिष्ट रूप प्रदान करती है जिसके बिना माँगें परिवर्तन प्रक्रिया से सही प्रकार से नहीं गुजर सकतीं।

माँगों के साथ–साथ माँगों का समर्थन भी होता है जोकि निवेशन है। राजनीतिक व्यवस्था माँगों को इस प्रकार प्राधिकारिक निर्णयों में परिवर्तित कर देती है जिससे माँग करने वाले सन्तुष्ट हो जायें। जिन प्राधिकृत निर्णयों से किसी राजनीतिक व्यवस्था के अधिकांश सदस्य असंतुष्ट होंगे, वे निर्णय उस व्यवस्था के प्रति आस्था में कमी लायेंगे। माँगों का प्राधिकृत निर्णयों में परिवर्तन निर्गतन कहलाता है तथा वह प्रक्रिया जिसके द्वारा ऐसा होता है उसे परिवर्तन क्रियाविधि (Conversion mechanism) कहा जाता है। कालान्तर में इन निर्गतनों द्वारा भविष्य के निवेशनों का निर्धारण होता है अर्थात् प्राधिकारिक निर्णय समय के साथ पर्यावरण में फिर से नवीन माँगें उत्पन्न करते हैं। इसे पुनर्निवेशन (Feedback) प्रक्रिया कहा जाता है। इस प्रकार निर्गतन ही राजनीतिक व्यवस्था के अन्तिम बिन्दु नहीं हैं। वास्तव में, ये व्यवस्था में पुनः वापस चले जाते हैं तथा व्यवस्था के आगामी व्यवहार का आधार प्रदान करते हैं। इसी दृष्टिकोण द्वारा राजनीतिक प्रक्रिया को व्यवहारों की एक निरन्तर एवं अन्तःसम्बन्धित प्रक्रिया कहा गया है। पुनर्निवेशन एक गतिशील प्रक्रिया को व्यवहारों की एक निरन्तर एवं अन्तःसम्बन्धित प्रक्रिया कहा गया है। पुनर्निवेशन एक गतिशील प्रक्रिया हैं जिसे राजनीतिक व्यवस्था के बहाव प्रतिरूप के रूप में जाना जा सकता है।

ईस्टन का व्यवस्थात्मक उपागम आमण्ड के संरचनात्मक–प्रक्रियात्मक उपागम से अधिक व्यापक है तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं एवं व्यवहार के विश्लेषण में अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसमें इन्होंने

तनाव एवं पुनर्निवेशन जैसे संप्रत्ययों को सम्मिलित करके इसे अधिक गतिशील बना दिया है। इस उपागम से राजनीतिक परिवर्तन तथा विकास को समझने के भी सफल प्रयास किए गए हैं। इस उपागम को जान–बूझ कर इस प्रकार का बनाया गया है कि यह किसी विशेष प्रकार की व्यवस्थाओं से आबद्ध नहीं हो पाया है, अपितु इससे राजनीतिक समाजशास्त्र में तुलनात्मक विश्लेषण को नवीन अन्तर्दृष्टि मिली है। इसे राजनीतिक विश्लेषण के सिद्धान्तों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

यद्यपि ईस्टन के व्यवस्थात्मक उपागम द्वारा राजनीतिक व्यवस्था के विश्लेषण की आलोचना अनेक कारणों से की गई परन्तु फिर भी इसकी उपयोगिता किसी भी प्रकार से कम नहीं होती है। इस उपागम द्वारा क्योंकि अधिक आनुभविक अध्ययन नहीं किये गये हैं, अतः इस पर आसानी से निश्चित आरोप नहीं लगाये जा सकते। फिर भी, ईस्टन के विश्लेषण में व्यवस्थात्मक उपागम की अनेक सामान्य कमियाँ स्पष्ट देखी जा सकती हैं–**प्रथम,** यह उपागम संतुलित अस्तित्व को अत्यधिक महत्व देता है जोकि राजनीतिक परिवर्तन की दृष्टि से मूलभूत नहीं है। **द्वितीय,** इस उपागम द्वारा उन इकाइयों अथवा तत्वों का विश्लेषण नहीं किया जा सकता जोकि वास्तव में गैर–राजनीतिक हैं परन्तु माँगों को प्रस्तुत करने में तथा उनके प्रति समर्थन जुटाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। **तृतीय,** इस उपागम द्वारा आकस्मिक तथा क्रान्तिकारी परिवर्तनों की व्याख्या नहीं दी जा सकती क्योंकि इन परिवर्तनों को परिवर्तन–यंत्र द्वारा नियन्त्रित करना कठिन हो सकता है। **चतुर्थ,** इस उपागम द्वारा राजनीतिक शक्ति जैसे संप्रत्यय की पूर्ण व्याख्या नहीं की जा सकती तथा मतदान जैसे व्यावहारिक राजनीतिक पहलुओं को नहीं समझा जा सकता।

कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि यह उपागम राजनीतिक समाजशास्त्र में सार्वभौमिक एवं सामान्य सिद्धान्त सम्बन्धी आधारभूमि के निर्माण का एक महत्वपूर्ण प्रयास है। इसने राजनीतिक समाजशास्त्र को व्यावहारिक बनाने में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

1.3.4 व्यवहारवादी उपागम : (Behavioural Approach)

व्यवहारवादी या व्यवहारात्मक उपागम आज राजनीतिक समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा समाजशास्त्र में सर्वाधिक प्रचलित एवं बहुचर्चित उपागम कहा जा सकता है जो कि मानव–व्यवहार के संप्रत्यय को प्रतिष्ठित करता है। इस उपागम का विकास सावयव, स्वरूपवादी, संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक, आदर्शात्मक तथा संघर्षात्मक उपागमों के विरोध में हुआ है। यह उपागम संविधान के अनुच्छेदों अथवा आदर्शो के अध्ययन की अपेक्षा व्यक्तियों के व्यवहार (राजनीतिक व्यवहार सहित) के अध्ययन पर बल देता है, चाहे वे व्यक्ति शासित वर्ग के हों या शासक वर्ग के। इसमें व्यक्तियों के व्यवहार की तुलना भी की जाती है तथा यह आनुभविक एवं वैज्ञानिक अध्ययनों पर बल देता है। आमण्ड, दहल, ईस्टन, दुत्श, लैसवेल, की, पोम्पर, टूमैन इत्यादि इनेक विद्वान इस उपागम के समर्थक हैं।

राजनीतिशास्त्र में व्यवहारवादी उपागम को एक आन्दोलन के रूप में माना गया है जिसे विविध प्रकार के नामों जैसे 'व्यवहारवादी अनुनय तथा 'सफल विरोध' से जाना जाता है। यह आन्दोलन राजनीतिकशास्त्र पर समाजशास्त्र के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण बीसवीं शताब्दी के शुरू में प्रारम्भ हुआ तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् राजनीतिक समाजशास्त्र विषय के विकास के साथ ही साथ इसे इसमें तथा राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र में एक महत्वपूर्ण उपागम के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

रॉबर्ट ए. दहल ने इसे राजनीतिशास्त्रियों (मुख्य रूप से अमरीकी राजनीतिशास्त्री) द्वारा अपने विषय के प्रति एक विद्रोही आन्दोलन के रूप में देखा है जोकि राजनीतिशास्त्र में प्रयुक्त किये जाने वाले ऐतिहासिक, दार्शनिक, वर्णनात्मक–संस्थागत उपागमों की उपलब्धियों के प्रति असंतुष्ट थे तथा जिनका यह भी विश्वास था कि राजनीतिक स्थितियों व प्रघटनाओं को क्रमबद्ध रूप से समझने के लिए अन्य विधियाँ

तथा उपागम उपलब्ध हैं या उनका विकास किया जा सकता है। इस आन्दोलन का उद्देश्य राजनीतिक अध्ययनों को आधुनिक समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, नृविज्ञान तथा अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों, विधियों, निष्कर्षो तथा दृष्टिकोणों के अधिक नजदीक लाना तथा राजनीतिशास्त्र के आनुभविक घटक को अधिक वैज्ञानिक बनाना था। दहल के शब्दों में, इसका उद्देश्य 'सरकार की सभी घटनाओं का व्यक्तियों के प्रेक्षित एवं प्रेक्षणमूलक व्यवहार के रूप में वर्णन करना है' ताकि राजनीतिक जीवन सम्बन्धी चिरस्थायी समस्याओं की पूर्ण वैज्ञानिक व्याख्या की जा सके।

डेविड ट्रूमैन के अनुसार व्यवहारवादी उपागम की दो प्रमुख माँगें हैं : (अ) अनुसन्धान व्यवस्थित होना चाहिए; तथा (ब) इसमें मुख्य रूप से आनुभविक विधियों को महत्व प्रदान किया जाना चाहिए। व्यवस्थित अनुसंधान से अभिप्राय प्राक्कलनाओं की परिशुद्ध प्रस्तावनाएँ देना तथा प्रमाणों को यथातथ्य व्यवस्थित करना है। साथ ही, इन्होंने अशोधित अनुभववाद अथवा ऐसी प्राक्कल्पना, जिसका आनुभविक परीक्षण नहीं किया जा सकता है, तथा आनुभविक विधियों में भेद करने पर भी बल दिया है।

डेविड ईस्टन ने व्यवहारवादी आन्दोलन की आठ मान्यताओं एवं उद्देश्यों का उल्लेख किया है जिन्हें व्यवहारात्मक उपागम की बौद्धिक आधारशिलाएँ कहा जा सकता है, ये निम्नांकित हैं :

(1) **नियमितताएँ** : व्यवहारवादी उपागम के समर्थकों का यह विश्वास है कि राजनीतिक व्यवहार में कुछ समानताएँ पायी जाती हैं जिनकी व्याख्या सामान्यीकरण तथा सिद्धान्तों के रूप में की जा सकती है तथा जिनकी सहायता से राजनीतिक स्थितियों एवं प्रघटनाओं को समझा जा सकता है तथा इनके बारे में पूर्वानुमान लगाया जा सकता है। ईस्टन ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया हे कि यद्यपि राजनीतिक व्यवहार अनेक कारणों से प्रभावित होता है तथा सदा समान नहीं है, फिर भी व्यक्तियों को विभिन्न परिस्थितियों में कुछ पहलुओं के संदर्भ में समान रूप से व्यवहार करते देखा गया है। मतदान व्यवहार इसका सबसे प्रमुख उदाहरण है।

(2) **सत्यापन** : व्यवहारवादी उपागम की दूसरी मान्यता यह है कि ज्ञान तभी प्रमाणित हो सकता है जबकि इसे ऐसी प्रस्तावनाओं के रूप में परिसीमित कर दिया जाए जिनकी आनुभविक रूप से परीक्षा की जा सके और प्रेक्षण पर आधारित प्रमाण एकत्रित किये जा सकें।

(3) **प्रविधियाँ** : व्यवहारवादी उपागम आँकड़े संकलित करने तथा इनके निर्वचन के लिए आनुभविक एवं संशुद्ध प्रविधियों के प्रयोग पर बल देता है ताकि वस्तुनिष्ठ रूप से प्रघटनाओं एवं व्यवहार को समझा जा सके। कुछ प्रविधियों जैसे बहुचर विश्लेषण, प्रतिदर्श, सर्वेक्षण, गणितीय आदर्शो, इत्यादि द्वारा वैध, विश्वसनीय तथा तुलनात्मक आँकड़े संकलित किये जा सकते हैं।

(4) **परिमाणन** : व्यवहारवादी उपागम के समर्थक मापन तथा परिमाणन के महत्व को स्वीकार करते हैं। राजनीतिक जीवन की जटिलताओं के बारे में वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए गुणात्मक आँकड़ों की अपेक्षा परिमाणात्मक आँकड़ों का संकलन तथा इनका परिशुद्ध मापन अनिवार्य है।

(5) **मूल्य** : व्यवहारवादी उपागम के समर्थकों की यह भी मान्यता है कि राजनीतिक प्रघटनाओं एवं व्यवहार का अध्ययन मूल्यों के प्रति तटस्थ रहकर किया जा सकता है। मूल्य तथा तथ्य दो विभिन्न बातें हैं तथा विश्लेषण की दृष्टि से इन्हें पृथक् माना जाना चाहिये। डेविड डब्लू. मिनार ने भी इन्हें पृथक् मानने पर बल दिया है। इन दोनों का अध्ययन पृथक् रूप से अथवा संयुक्त रूप से हो सकता है, परन्तु इन्हें एक–दूसरे से मिलना उचित नहीं है। वैज्ञानिक अनुसंधान वस्तुनिष्ठ होने के लिए मूल्यों से स्वतंत्र होना चाहिए तथा अनुसंधानकर्त्ता को अध्ययन करते समय अपने व्यक्तिगत अथवा नैतिक मूल्यों के प्रति तटस्थ रहना चाहिए।

(6) **व्यवस्थापनः** व्यवहारवादी उपागम के समर्थकों का यह दावा है कि राजनीतिक समाजशास्त्र में व्यवस्थित अनुसंधान सम्भव है। व्यवस्थित अथवा क्रमबद्ध रूप से इनका तात्पर्य सिद्धान्त–निर्देशित

एवं सिद्धान्ताभिमुख अनुसंधान से है जिसमें अनुसंधान को व्यवस्थित ज्ञान के परस्पर सम्बन्धित अंग माना गया है। व्यवहारवादियों का उद्देश्य कार्य–कारण सम्बन्धों के आधार पर सामान्य सिद्धान्तों का निर्माण करना है अर्थात् परस्पर सम्बन्धित राजनीतिक घटनाओं के सम्बन्ध में सामान्य नियमों की खोज करना है।

(7) **विशुद्ध विज्ञान** : व्यवहारवादी उपागम विशुद्ध विज्ञान में विश्वास करने पर बल देता है। यद्यपि इन लोगों का यह विचार है कि अनुप्रयुक्त अनुसंधान (जिसका उद्देश्य व्यावहारिक समस्याओं का समाधान करना है) तथा विशुद्ध अनुसंधान (जिसका उद्देश्य व्यवस्थित एवं व्यवहारात्मक ज्ञान में वृद्धि करना है); वैज्ञानिक उद्यम में परस्पर सम्बन्धित हैं, फिर भी इन्होंने विशुद्ध अनुसंधान को अधिक महत्वपूर्ण माना है।

(8) **समाकलनः** व्यवहारवादी उपागम के समर्थक विभिन्न सामाजिक विज्ञानों में समाकलन (एकीकरण) पर बल देते हैं। वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है तथा उसकी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं अन्य गतिविधियों में अंतर किया जा सकता है, परन्तु किसी एक को समझने के लिए दूसरी गतिविधियों का ज्ञान होना अनिवार्य है। अतः राजनीतिक प्रघटनाओं को समझने के लिए आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा अन्य प्रघटनाओं को समझना जरूरी है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि व्यवहारात्मक उपागम के समर्थक अन्तःशास्त्रीय उपागम को अधिक महत्व देते हैं।

व्यवहारवादी उपागम की इन मान्यताओं को परम्परावादी राजनीतिशास्त्री स्वीकार नहीं करते तथा ईस्टन ने इन्हीं मान्यताओं के आधार पर व्यवहारात्मक एवं परम्परागत उपागमों में अन्तर समझाने का भी प्रयास किया है।

युलाउ ने व्यवहारवादी उपागम की चार विशेषताएँ बतायी हैं :

1. यह व्यक्तियों और सामाजिक समूहों के व्यवहार का विश्लेषण करता है।
2. यह सामाजिक मनोविज्ञान, सामाजशास्त्र और सांस्कृतिक नृविज्ञान से विषय–संदर्भ लेकर अनुसंधान एवं सिद्धान्त का विकास करता है।
3. यह अनुसंधान और सिद्धान्त की पारस्परिक आत्मनिर्भरता में विश्वास करता है तथा इस बात पर बल देता है कि तथ्य सिद्धान्त की ओर तथा सिद्धान्त तथ्य की ओर जाने चाहिए।
4. यह मान्य विश्वसनीय तथा परिशुद्ध प्रविधियों और पद्धतियों द्वारा तथ्यों के संकलन को महत्व प्रदान करता है।

आज व्यवहारवादी आंदोलन अपने अगले चरण उत्तर–व्यवहारवादी अवस्था की ओर बढ़ गया है। यह एक प्रकार के व्यवहारवादी उपागम की उपलब्धियों और विशेषताओं को बनाये रखकर समाज की तात्कालिक समस्याओं, संकटों और चुनौतियों का अध्ययन करने तथा उनके समाधान की माँग करता है। इसलिये इसे परम्परावाद का पुनरूत्थान नहीं समझना चाहिये।

व्यवहारवादी उपागम ने राजनीतिक समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है तथा राजनीतिशास्त्र के परम्परागत स्वरूप को पूरी तरह से बदलकर उसे अन्य सामाजिक विज्ञानों के समान स्तर पर लाने में सहायता दी है। इससे सामाजिक विज्ञानों में समाकलन बढ़ा है तथा अन्तःशास्त्रीय उपागम द्वारा विविध प्रकार की स्थितियों एवं प्रघटनाओं को समझने में रूचि निश्चित रूप से अधिक होती जा रही है। ईस्टन के अनुसार यह उपागम 'सम्पूर्ण सामाजिक विज्ञानों में विश्लेषणात्मक एवं व्याख्यात्मक सिद्धान्त के समारम्भ का सूचक है। यह समाज के विभिन्न परिवर्तनशील अवबोधक उपागमों की एक लम्बी पंक्ति में एक नूतन विकास है।' वर्मा ने इस उपागम की उपलब्धियों की विवेचना दो क्षेत्रों–(अ) सिद्धान्तों का निर्माण; तथा (ब) अनुसंधान की प्रविधियों के संदर्भ में की है। इनका विचार है कि अगर हम

1960–1970 के दशक की उपलब्धियों को भी सामने रखें तो ऐसा आभास होता है कि व्यवहारवाद दो आंदोलनों–सैद्धान्तिक तथा तकनीकी के रूप में विकसित हुआ है, परन्तु तकनीकी आंदोलन सैद्धान्तिक आंदोलन से काफी आगे निकल गया है।

व्यवहारवादी उपागम ने अनुसंधान की प्रविधियों एवं यंत्रों को विकसित करने एवं उन्हें अधिक सटीक बनाने में विशेष योगदान दिया है। अन्तर्वस्तु विश्लेषण, केस विश्लेषण, साक्षात्कार एवं प्रेक्षण तथा सांख्यिकी के क्षेत्र में इसका योगदान अद्वितीय रहा है। इसमें परिवर्तन अग्रवर्णित प्रकार से समझा जा सकता है।

क्षेत्र	परिवर्तन	
	से	को
अन्तर्वस्तु विश्लेषण	गुणात्मक	परिमाणात्मक
केस विश्लेषण	विशिष्ट	तुलनात्मक
साक्षात्कार तथा प्रेक्षण	अनियमित मतदान एवं पत्रकारों की तरह साक्षात्कार	प्रतिदर्श सर्वेक्षण, गहन साक्षात्कार एवं पेनल अध्ययन, अनुमापन प्रविधियाँ, प्रयोगात्मक अध्ययन
सांख्यिकी	एक–चरीय विश्लेषण	बहुचरीय विश्लेषण

व्यवहारवादी उपागम ने प्रविधियों के विकास के साथ ही साथ परम्परागत राजनीतिशास्त्र तथा समाजशास्त्र के अनेक मूल संप्रत्ययों को भी परिवर्तित कर दिया है जिसे पुलपरांपिल ने निम्न प्रकार से व्यक्त किया है :

परम्परागत राजनीतिशास्त्र	व्यवहारात्मक राजनीतिशास्त्र
राज्य	राजनीति व्यवस्था
अधिकार	प्रकार्य
पद	भूमिकाएँ
संस्थाएँ	संरचनाएँ
शक्ति	क्षमता
सार्वभौमत्व	स्वायत्तता
जनमत	राजनीतिक संस्कृति
नागरिक प्रशिक्षण	राजनीतिक समाजीकरण

सिद्धान्त निर्माण के क्षेत्र में व्यवहारवादी उपागम का योगदान तकनीकी विकास की अपेक्षा कम रहा है। व्यवहारवादी उपागम के समर्थकों ने अन्य उपागमों जैसे संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक, व्यवस्थात्मक, निवेशन–निर्गतन, निर्णय सिद्धान्त, क्रीड़ा, सिद्धान्त, क्षेत्र प्रतिरू इत्यादि का बखूबी विवेचन किया है, परन्तु अभी तक यह सिद्ध नहीं हो पाया है कि इन्हें रूपावली, संप्रत्ययात्मक ढाँचा, उपागम अथवा सिद्धान्त में से क्या कहा जाये। फिर भी, अधिकतर विद्वान इस बात से सहमत हैं कि सिद्धान्त–निर्माण की दिशा में अभी कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिल पायी है।

व्यवहारवादी उपागम की आलोचना अनेक दृष्टियों से की गयी है। आलोचना के कतिपय प्रमुख बिन्दु निम्नांकित हैं :

1. व्यवहारवादी उपागम की सहायता से यद्यपि अनुसंधान की कार्य–पद्धति, प्रविधियों एवं यंत्रों के विकास के क्षेत्र में उल्लेखनीय सफलता मिली है, फिर भी इसने विद्वानों को राजनीतिक समाजशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र की विषय–वस्तु से विमुख कर दिया। विभिन्न विद्वान इसके प्रभाव

के अन्तर्गत समाज की तात्कालिक समस्याओं, संकटों एवं चुनौतियों का अध्ययन करने तथा उनके समाधान ढूँढ़ने की अपेक्षा अनुसंधान की कार्य–पद्धति को विकसित करने में ही लगे रहे।

2. व्यवहारवादी उपागम के समर्थकों का राजनीति के विज्ञान को विशुद्ध विज्ञान बनाने का दावा भी अधिक उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि वे कार्य–पद्धति में सुधार के बावजूद राजनीतिक व्यवहार एवं राजनीतिक प्रघटनाओं के बारे में कोई सामान्य सिद्धान्त बनाने में सफल नहीं रहे हैं।

3. व्यवहारवादी उपागम यद्यपि सामाजिक विज्ञान के समाकलन पर बल देता है, परन्तु वास्तविक यह है कि इसके द्वारा केवल सूक्ष्म अध्ययन अर्थात् छोटे समूहों की राजनीतिक व्यवस्थाओं का अध्ययन ही सम्भव है। अगर छोटे समूहों में राजनीतिक व्यवहार एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं को समझ भी लिया जाये, तो भी इन सूक्ष्म अध्ययनों के आधार पर सिद्धान्त का निर्माण करना कठिन है।

4. राजनीति तथ्य जटिल, संश्लिष्ट एवं परिवर्तनशील हैं तथा प्रत्यक्ष प्रेक्षण योग्य न होने के कारण प्राकृतिक या भौतिक तथ्यों से भिन्न हैं। अतः व्यवहारवादी उपागम के समर्थकों का राजनीतिशास्त्र, राजनीतिक समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों को प्राकृतिक या भौतिक विज्ञानों के समकक्ष मानना एवं एक समान कार्य–पद्धति अपनाने की बात कहना उचित नहीं है।

5. व्यवहारवादी उपागम की आलोचना इस बिन्दु के आधार पर भी की गई है कि यद्यपि इसके समर्थक अपने–आपको विशुद्ध एवं मूल्य–निरपेक्ष वैज्ञानिक बताते हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि वे स्वयं अनेक पूर्वाग्रहों (विशेषतया प्रजातंत्र में आस्था) एवं मूल्यों से प्रभावित हैं।

6. परम्परावादी राजनीतिशास्त्री व्यवहारवादी उपागम की मान्यताओं एवं उद्देश्यों से भी असहमत हैं। इनका कहना है कि राजनीतिक प्रघटनाओं की प्रकृति इतनी जटिल है कि इनका प्रत्यक्ष प्रेक्षण द्वारा वस्तुनिष्ठ अध्ययन कर पाना सम्भव ही नहीं है। अधिकांश राजनीतिक मुद्दे नैतिक मूल्यों से जुड़े हैं, अतः तथ्यों को मूल्यों से पृथक् करना सम्भव नहीं है।

1.3.5 संघर्षात्मक उपागम :

प्रत्येक समाज में सहयोग तथा संघर्ष पाया जाता है। जहाँ सहयोग जीवन या व्यवस्था में एकरूपता, मतैक्य, एकीकरण एवं संगठन का विकास करता है, वहीं दूसरी ओर संघर्ष, दमन, विरोध व हिंसा की उत्पत्ति करता है। संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक एवं व्यवस्थात्मक उपागमों में व्यवस्था के संतुलन अथवा एकात्मकता के आयामों को विशेष महत्व दिया जाता है। अतः इसके विरोध में एक अन्य उपागम विकसित किया गया है जिसे संघर्षात्मक उपागम के नाम से जाना जाता है। संघर्षात्मक उपागम में व्यवस्था में पाये जाने वाले तनाव व संघर्ष के आयामों को अधिक महत्व दिया जाता है। इस उपागम के समर्थक हमारा ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करते हैं कि आधुनिक समाज तनाव व संघर्ष से आक्रांत है और सामाजिक जीवन में सामान्य सहमति न होकर असहमति, प्रतिस्पर्द्धा तथा स्वार्थो के संघर्ष की प्रधानता होती जा रही है। इनका विचार है कि सामाजिक तनाव एवं संघर्ष के प्रति विमुख होने के कारण संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक एवं व्यवस्थात्मक उपागम यथार्थ स्थिति को समझने में सहायक नहीं हैं। सिमेल, कोजर, मार्क्स, डेहरेन्डोर्फ, गालटुंग, कोलिन्स, ड्यूक, बेगहट, समनर, ओपनहीमर इत्यादि अनेक विद्वानों ने इस उपागम को समर्थन प्रदान किया है।

कोजर ने अपनी पुस्तक **दि फंक्शन ऑफ सोशल कान्फ्लिक्ट** में संघर्ष की परिभाषा इन शब्दों में दी है, 'स्थिति, शक्ति तथा सीमित साधनों' के मूल्यों अथवा अधिकारों के लिए होने वाले द्वन्द्व को संघर्ष कहा जाता है जिसमें संघर्षरत समूहों का उद्देश्य न केवल मूल्यों को प्राप्त करना है बल्कि अपने प्रतिद्वन्द्वियों को प्रभावहीन करना, हानि पहुँचाना अथवा समाप्त करना भी है। इनका कहना है कि संघर्ष समूह अंतर्गत व्यक्तियों में, व्यक्ति तथा समूह में अथवा विभिन्न समूहों के मध्य हो सकता है।

संघर्ष उपागम के तीन प्रमुख स्वरूप हमारे सामने प्रस्तुत किये गये हैं : **(1) संघर्ष रूपावली,** जिसमें इस तथ्य पर बल दिया जाता है कि समाज में रहने वाले विभिन्न व्यक्ति (अथवा समूह) सीमित साधनों पर अधिकार प्राप्त करने के लिए प्रतिस्पर्द्धा एवं संघर्ष करने में लगे रहते हैं; **(2) संघर्ष–प्रघटना की व्याख्या,** जिसमें यह तर्क स्वीकार किया गया है कि समाज में संघर्ष स्थानिक है तथा इसके कारणों का पता लगाने का प्रयास किया जाता है; तथा **(3) संघर्ष एक कार्य–प्रणाली के रूप में,** जिसमें संघर्ष को एक कार्य–प्रणाली अथवा राजनीतिक दाँव–पेच के रूप में स्वीकार किया जाता है। यह दृष्टिकोण इस बात पर बल देता है कि ज्ञान कार्यवाही की माँग करता है जो कि सामान्यतः उग्र उन्मूलनवादी होती है।

डेहरेन्डोर्फ ने संघर्ष को एक अनिवार्य सामाजिक तथ्य बताया है, क्योंकि आज के औद्योगिक समाज में सम्पूर्ण सामाजिक जीवन हितों एवं स्वार्थो से प्रेरित होता है जो कि व्यक्तिगत तथा सामूहिक–दोनों क्षेत्रों में देखे जा सकते हैं। इन्होंने संघर्ष उपागम में निम्नांकित चार विशेषताओं को महत्वपूर्ण माना है।

1. प्रत्येक समाज सदैव परिवर्तन की प्रक्रियाओं के अधीन रहता है, सामाजिक परिवर्तन सर्वव्यापी हैं।

अन्य विद्वानों ने कार्ल मार्क्स की वर्ग–संघर्ष की धारणा की आलोचना की है। इन विद्वानों का मत है कि केवल आर्थिक हित ही व्यवस्थाओं के परिवर्तन में निर्णायक नहीं हैं। यह संघर्ष सत्ता के नियन्त्रण अथवा विचारों के नियंत्रण पर भी हो सकता है। अनेक देशों में राजनीतिक आंदोलन, बेरोजगारी के कारण नहीं हुए अपितु राजनीतिक स्वतंत्रता या धार्मिक एवं शैक्षणिक समस्याओं के लेकर हुए हैं। साथ ही वर्ग–संघर्ष को वर्तमान समाजों का आधार–मानना अनुचित है। अतः स्पष्ट है कि मार्क्स का वर्ग–संघर्ष का विश्लेषण राजनीतिक प्रघटनाओं की सटीक व्याख्या नहीं करता।

डेहरेन्डोर्फ की आधुनिक औद्योगिक समाज में संघर्ष की व्याख्या मार्क्सवाद का वेबर और मिचेल्स के कुछ विचारों से संयोजित आधुनिक स्वरूप ही है जिसमें उनके अपने महत्वपूर्ण एवं मौलिक योगदान की भी अपेक्षा नहीं की जा सकती है। इनके अनुसार समाज की बाध्यकारी प्रकृति सत्ता सम्बन्धों को बढ़ावा देती है जिसके परिणामस्वरूप भूमिका–हितों पर आधारित संगठित संघर्ष–समूह विकसित होते हैं, इसलिए जहाँ कहीं भी संगठन होगा, वहीं पर संघर्ष की सम्भावना भी रहेगी। उनके अनुसार सामाजिक जीवन स्वाभाविक रूप से संघर्षात्मक है। डेहरेन्डोर्फ के विचारों को संघर्ष रूपावली तथा संघर्ष का सिद्धान्त दोनों माना जा सकता है। संघर्ष उपागम का विकास यद्यपि मुख्य रूप से सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था और विशेष रूप से राजनीतिक व्यवस्था का अध्ययन करने के लिए किया गया है, परन्तु यह संघर्ष की अन्य परिस्थितियों को समझने में भी सहायक है। इसके द्वारा हम मौलिक संघर्ष–स्थितियों के वर्गीकरण, समाजीकरण और शिक्षण, क्रान्तिकारी और संधि परिस्थितियों, शक्ति के आदर्शो और व्यवस्थाओं से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार की अन्य समस्याओं का भी अध्ययन कर सकते हैं।

जहाँ पर संघर्ष उपागम विविध प्रकार की सामाजिक परिस्थितियों के अध्ययन में उपयोगी सिद्ध हुआ है, वहीं पर यह उपागम अन्य उपागमों की तरह पूर्णतया दोषरहित नहीं है। इसमें सामाजिक वास्तविकता के केवल एक पक्ष अर्थात् संघर्ष एवं विरोध पर ही अत्यधिक बल दिया जाता है। इसी के परिणामस्वरूप इस दृष्टिकोण के समर्थक अध्ययन परिस्थितियों में पायी जाने वाली एकता की उपेक्षा करते हैं तथा जहाँ पर संघर्ष विद्यमान ही नहीं है, वहाँ पर भी संघर्ष को खोज निकालने का प्रयास करते हैं।

भारतीय समाज में संघर्ष उपागम द्वारा अधिक अध्ययन नहीं हुए हैं, अतः भारतीय समाज के संदर्भ में इसकी उपयोगिता एवं व्यावहारिकता के बारे में निश्चित रूप से कुछ कह पाना कठिन है। अधिकांश भारतीय विद्वानों ने संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक उपागम को ही अपनाया है। संघर्ष उपागम की उपयोगिता वर्तमान भारतीय समाज के संदर्भ में बढ़ती जा रही है तथा अन्य उपागमों की तरह निश्चित रूप से यह भी उपयोगी सिद्ध होगा।

संघर्षात्मक उपागम संगठनवादी उपागमों (संरचनात्मक–प्रकार्यत्मक तथा व्यवस्थात्मक) से बिल्कुल उल्टा है। पहले में विश्लेषण राष्ट्रीय एकता, राजनीति की आत्म–निर्भरता और वर्ग–सहयोग पर आधारित है जबकि दूसरे प्रकार के उपागमों में विश्लेषण राजनीति के सामाजिक–आर्थिक आधार, श्रेणी–संघर्ष की अनिवार्यता और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बद्धता के सिद्धान्तों पर टिका हुआ है। संघर्षात्मक उपागम हितों और स्वार्थो, प्रलोभन और दमन, विभेदीकरण और भेदभाव, विरोध एवं तनाव, सामाजिक व्यवस्था में असंगठन और आन्तरिक विरोध पर बल देता है जबकि संगठनवादी उपागम सामाजिक जीवन में पाये जाने वाले आदर्शो और मूल्यों, वचनबद्धता, संगठन और एकता, पारस्परिकता और सहयोग तथा सामाजिक व्यवस्थाओं के संगठन और एकीकरण को अधिक महत्व प्रदान करता है।

राजनीतिक समाजशास्त्र में प्रयुक्त किये जाने वाले कतिपय प्रमुख उपागमों की संक्षिप्त विवेचना से हमें यह पता चलता है कि प्रत्येक उपागम में अध्ययन समस्या के विशेष पहलू के विश्लेषण पर अधिक बल दिया जाता है, इसलिए आज एक से अधिक उपागमों को एक साथ प्रयोग में लाने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है।

1.4 राजनीतिक व्यवस्था व समाज का अन्तर्सम्बन्ध :

समाजशास्त्र सभी सामाजिक शास्त्रों की जड़ है। समाजशास्त्र सामाजिक समुदायों, जीवन, विचारों, संगठन इत्यादि का क्रमबद्ध ज्ञान है। यह सामाजिक जीवन के तमाम पहलुओं का अध्ययन करता है। सामाजिक जीवन के पहलुओं में आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक सभी पहलू शामिल हैं, समाजशास्त्र इनके मूल तत्वों का अध्ययन करता है।

19वीं शताब्दी में समाजशास्त्र के जन्मदाता काम्टे ने समाज के अध्ययन को विभिन्न शास्त्रों में बांटने के बजाय केवल एक ही शास्त्र, समाजशास्त्र के अन्तर्गत रखने का सुझाव दिया। किन्तु 19वीं शताब्दी के अन्त तथा 20वीं शताब्दी के आरम्भ में विभिन्न सामाजिक शास्त्र अस्तित्व में आये। समाजशास्त्र से इनका सम्बन्ध अवश्य है, क्योंकि समाजशास्त्र समाज के तमाम पहलुओं का मूलभूत अध्ययन करता है, जबकि समाज के अलग–अलग पहलुओं का अध्ययन करने वाले शास्त्र केवल एक पहलू का गहराई से अध्ययन करते हैं। अतः हर सामाजिक शास्त्र समाजशास्त्र का ही अंग मात्र है। समाजशास्त्र मानव के राजनीतिक पहलू का भी अध्ययन करता है क्योंकि यह उसके सामाजिक जीवन का एक पहलू है, इसलिए राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र का आपसी सम्बन्ध है। जो सम्बन्ध राज्य तथा समाज में है, वही सम्बन्ध राजनीतिशास्त्र तथा समाजशास्त्र में है राज्य समाज की सेवा करने वाली या समाज के एक वर्ग की सेवा करने वाली संस्था मानी जाती है और यह समाज के विकास की एक निश्चित दशा में उभरती है। अतः समाज के विकास के नियमों को जाने बिना राजनीतिशास्त्र का अध्ययन नहीं किया जा सकता।

पिछले 30–35 वर्षों में राजनीति में व्यवहारवाद के विकास के साथ–साथ समाजशास्त्र का राजनीतिशास्त्र पर काफी प्रभाव बढ़ गया है। मानव का राजनीतिक व्यवहार समाज की परिस्थितियों एवं प्रक्रियाओं द्वारा प्रभावित होता है। राजनीतिक व्यवहार को समझने के लिए नागरिकों का राजनीतिक समाजीकरण तथा समाज की राजनीतिक संस्कृति एवं परम्पराएं जानना आवश्यक है। इसलिए समाजशास्त्र की अध्ययन पद्धति को बहुत हद तक राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में लगाया गया है। व्यवहारवाद के उदय से राजनीतिशास्त्र तथा समाजशास्त्र काफी नजदीक आ गए हैं और समाजशास्त्र का प्रभाव राजनीतिशास्त्र पर बढ़ा है। समाजशास्त्र का राजनीति पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि राजनीतिशास्त्र की एक नयी शाखा स्थापित कर ली गयी है। इसका नाम 'राजनीति समाजशास्त्र' रखा गया है। यह कहा जाता है कि आजकल राजनीति का समाजीकरण और समाज का राजनीतिकरण हो गया है, इस प्रकार दोनों शास्त्र एक–दूसरे में घुलमिल गये हैं। इस मिले–जुले रूप का अध्ययन राजनीतिक समाजशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है।

इसी प्रकार आजकल कल्याणकारी राज्य के उदय हो जाने की वजह से राज्य तथा राजनीति समाज के प्रत्येक क्षेत्र में घुस गयी है। समाज के सारे सवाल, सारे पहलू किसी न किसी रूप में राज्य तथा राजनीति से जुड़ गये हैं। समाज की हर संस्था एवं संगठन राजनीति से प्रभावित होता है। इसलिए समाजशास्त्र का अध्ययन राजनीति से गहरे रूप में प्रभावित होता है। समाजशास्त्र राजनीति के अध्ययन के बिना अधूरा है क्योंकि आज समाज की हर गतिविधि राजनीति से प्रेरित रहती है।

राजनीति विज्ञान राज्य और शासन के अध्ययन का विज्ञान है। यह राज्य की उत्पत्ति, विकास और राजनीतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन कराता है। यह केवल उन्हीं तथ्यों या विषयों को राजनीतिक मानता है जो राज्य की परिधि के अन्दर घटित होती हैं। किन्तु मानव कार्यकलापों, व्यवहारों और सम्बन्धों का एक बहुत बड़ा क्षेत्र राज्य के दायरे के बाहर पड़ जाता है। राजनीतिक समाजशास्त्र ठीक ऐसे ही क्षेत्र पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है जिसे राजनीति विज्ञान द्वारा अनदेखा कर दिया गया है।

राजनीति विज्ञान और राजनीतिक समाजशास्त्र के बीच का अन्तर बहुत कुछ समाज और राज्य के अन्तर के समतुल्य है। **बेनेडिक्स** और **लिपसेट** के शब्दों में, "जहां राजनीति विज्ञान राज्य से आरम्भ होकर इस तथ्य की छानबीन करता है कि कैसे राज्य समाज को प्रभावित करता है, राजनीतिक समाजशास्त्र समाज से आरम्भ होकर इस तथ्य की गवेषणा करता है कि कैसे समाज राज्य को प्रभावित करता है।" राजनीतिक समाजशास्त्र की यह मान्यता है कि राज्य अनेकानेक राजनीतिक संस्थाओं में से एक है और इन संस्थाओं के बीच के सम्बन्धों का अध्ययन समाजशास्त्र का सामान्य विषय क्षेत्र है और राजनीतिक संस्थाओं और अन्य संस्थाओं के बीच अध्ययन राजनीतिक समाजशास्त्र का विशिष्ट अध्ययन क्षेत्र है। बेनेडिक्स के अनुसार राजनीतिक समाजशास्त्र की दो विशेषताएं हैं : **प्रथम,** राजनीतिक समाजशास्त्र 'राजनीतिक' और 'सामाजिक' के बीच के सम्बन्धों का अध्ययन करता है; और **द्वितीय,** यह प्रतिपादित करता है कि 'राजनीतिक' को 'सामाजिक' के साथ सम्बद्ध किये बिना राजनीति को नहीं समझा जा सकता। 'राजनीति का समाजशास्त्र' स्पष्ट रूप से समाजशास्त्र का एक उपक्षेत्र है। यह राजनीति का समाजशास्त्रीय मूल्यांकन है।

सारटोरी का अभिमत है कि मनुष्य केवल एक राजनीतिक प्राणी ही नहीं बल्कि एक सामाजिक प्राणी भी है। अपने राजनीतिक क्रियाकलापों के अतिरिक्त उसका अपना एक गैर–राजनीतिक कार्यक्षेत्र भी है और उसके ये दोनों कार्यक्षेत्र एक–दूसरे से अलग–अलग नहीं हैं बल्कि अन्तःसम्बद्ध हैं। यह समझे बिना कि गैर–राजनीतिक कार्यकलाप कैसे राजनीतिक कार्यकलापों को प्रभावित करते हैं, राजनीतिक गतिविधियों, कार्यकलापों और प्रक्रियाओं को सही ढंग से नहीं समझा जा सकता है।

राजनीतिक घटनाओं, तथ्यों या यथार्थताओं को समझने के लिए उनके परिमाणात्मक मापन अथवा मूल्यांकन की आवश्यकता होती है। परिमाणात्मक मापन और मूल्यांकन के लिए सामाजिक प्रक्रियाओं और संरचनाओं को ध्यान से देखा और परखा जाना आवश्यक है। 'राजनीतिक मनुष्य' आवश्यक रूप से अपने सामाजिक परिवेशों और उसके अपने अनुभवों की उपज होता है। 'राजनीतिक मानव' की भूमिका मात्र सांविधानिक, राजनीतिक या संस्थागत ढांचे के द्वारा ही निर्धारित नहीं होती है। 'राजनीति मानव' के साथ उसकी पारिवारिक पृष्ठभूमि, उसका व्यवसाय, उसकी शिक्षा, धर्म और उसका पर्यावरण होता है। सामाजिक संरचना के इन विभिन्न परिवर्त्यों की पृष्ठभूमि में ही एक मतदाता, एक सिविल सर्वेन्ट, एक विधायक और पार्टी नेता की राजनीतिक भूमिकाओं को भली प्रकार समझा जा सकता है।

किन्तु सामाजिक संरचना भी अनेक सांस्कृतिक प्रतिबन्धों और दबावों से ग्रसित होती है और इसमें धीरे–धीरे बदलाव आता रहता है। इस बदलाव को लाने में औद्योगीकरण, आधुनिकीकरण, नगरीकरण की प्रमुख भूमिका है। उदाहरण के लिए, आज से सौ वर्ष पहले भारतीय समाज में पुरोहितों और मौलवियों की धार्मिक–सामाजिक भूमिका अधिक महत्वपूर्ण थी, किन्तु आज उनकी राजनीतिक भूमिका भी दृष्टव्य है। इस

परिवर्तन का कारण है कि आज पुरोहित की भूमिका के निर्वाह को लेकर सामाजिक प्रत्याशाओं में भी भारी बदलाव आया है। इस तरह 'राजनीति का समाजशास्त्र' सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर 'राजनीति' के निकट आने लगा है। आज राजनीति का समाजशास्त्र राज्य से शुरू होकर राज्य के परे जाता है और अपना ध्यान वृहद् सामाजिक पहलू पर केन्द्रित करता है और इस तथ्य को उजागर करता है कि राजनीतिक क्षेत्र में जो अदृश्य है वह उसकी तुलना में ज्यादा महत्वपूर्ण है जो कि एक राजनीतिक समाजशास्त्री का ध्यान आकर्षित करता है और इस प्रकार सारटोरी के शब्दों में 'राजनीति का समाजशास्त्र' राजनीति विज्ञान को वृहद् स्तर पर 'समाजशास्त्र' पर आश्रित बनाता है।

यह सच है कि 'राजनीतिक समाजशास्त्र' बहुत सीमा तक 'राजनीति के समाजशास्त्र' को अपने में अन्तर्निहित करता है, फिर भी यह दोनों पर्यायवाची नहीं हैं। बेशक राजनीति का समाजशास्त्र उस राजनीति तक अपनी पहुंच रखता है जो सामाजिक संरचना और सामाजिक संस्कृति के तत्वों से निर्धारित होती है इस प्रकार यह राजनीति को समझने के लिए सामाजिक परिवर्त्यो पर अपना पूरा जोर देता है। किन्तु इसके परिणामस्वरूप समाजशास्त्र का राजनीति विज्ञान पर प्रभुत्व स्थापित होने का खतरा बढ़ जाता है।

राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए इतिहास अत्यन्त उपयोगी है। इतिहास ही राजनीति के सभी सिद्धान्तों तथा राजनीतिक गतिविधियों का उद्‌गम है। राजनीतिक घटनाओं क्रान्तियों, जन आन्दोलनों, राष्ट्रीय संग्रामों, युद्धों तथा राजनीतिक संस्थाओं, राज्यों आदि के विकास की जानकारी इतिहास के पृष्ठों में उपलब्ध है। राजनीतिशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों की परख करने में इतिहास महत्वपूर्ण सहायता करता है। कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं–शक्ति का सिद्धान्त, शक्ति संतुलन में परिवर्तन, प्रतिरोध, संघर्ष आदि। किसी भी देश के लोगों का राजनीतिक जीवन, उनकी प्रवृतियां, विचार, ध्येय, प्रतिक्रियाएं और संशय बहुत हद तक इतिहास से प्रभावित होते हैं। वर्तमान अनुभववादी सिद्धान्त इस धारणा को रीति–रिवाज और राजनीतिक संस्कृति का नाम देकर मान्यता देते हैं, परन्तु इतिहास के माध्यम से केवल रीति–रिवाज और राजनीतिक संस्कृति को ही नहीं समझा जाता। राजनीतिक प्रबन्ध, संस्थाएं, विषमताएं तथा समूह, आदि भी ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक अच्छी तरह समझे जा सकते हैं।

इसी प्रकार युद्ध, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, राष्ट्रीय स्वतंत्रता, साम्प्रदायिकता, आदि विषयों को समझने के लिए इतिहास से पर्याप्त सहायता ली जा सकती है। इसी तरह हम अपनी राजनीतिक प्रक्रिया को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अच्छी तरह समझ सकते हैं। भारत में उदारवादी पश्चिमी लोकतान्त्रिक संस्थाएं ऐसे दौर में स्थापित की गयी। जब सामंतवाद समाप्त नहीं हुआ था और बुर्जुआ वर्ग सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन में अपनी भूमिका निभाने के लिए तैयार नहीं था। परिणामस्वरूप यहां कानून का शासन और उदारवादी संविधान आश्रित और आश्रयदाता के सम्बन्धों तक ही सीमित रहा है। अतः राजनीति के ऐतिहासिक परिवर्तनों को समझने के लिए वृहत् समस्याओं के विश्लेषण के लिए तथा राजनीति को दिशा निर्देश देने के लिए इतिहास का ज्ञान अनिवार्य है।

वस्तुतः इतिहास राजनीति की प्रयोगशाला है। राजनीति में प्रयोग करना बहुत मंहगा हो सकता है। अच्छा यह होता कि हम अपनी गलतियों से नहीं, बल्कि दूसरों की गलतियों तथा प्रयोगों से सीखें। इसलिए इतिहास के अध्ययन से हमें बहुत से ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं, जिनके आधार पर हम बिना भूल किये ही, दूसरों की गलतियों या प्रयोगों से बहुत कुछ सीख सकते हैं।

आज अर्थशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र का अध्ययन एक–दूसरे से बिना जोड़े नहीं किया जा सकता। राजनीतिक व्यवस्थाओं का सम्पूर्ण अध्ययन आर्थिक व्यवस्था के विकास को देखें बिना नहीं किया जा सकता। तीसरी दुनिया के विकासशील देशों का अध्ययन उनके आर्थिक विकास की आवश्यकता के संदर्भ में ही किया जाता है। वर्ग संघर्ष में फंसे समाज में राजनीतिक स्थायित्व, मेल–मिलाप, सामंजस्य तथा

सहयोग की तमाम समस्याएं आर्थिक ही हैं। राजनीति विज्ञान तथा अर्थशास्त्र के घनिष्ठ सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए चार्ल्स बियर्ड ने लिखा है, "अर्थशास्त्र के बिना राजनीति विज्ञान अवास्तविक तथा आत्परक नियम निष्ठा बनकर रह जाता है। राजनीति को समझना तथा पूर्ण ज्ञान के साथ निर्णय करना केवल तभी सम्भव जब अर्थ विषयक प्रसंगों पर गम्भीरता से विचार किया जाये।"

19वीं शताब्दी में समाजशास्त्र के जन्मदाता काम्टे ने समाज के अध्ययन को विभिन्न शास्त्रों में बांटने के बजाय केवल एक ही शास्त्र समाजशास्त्र के अन्तर्गत रखने का झुकाव दिया। किन्तु 19वीं शताब्दी के अन्त तथा 20वीं शताब्दी के आरम्भ से विभिन्न सामाजिक शास्त्र अस्तित्व में आये। समाजशास्त्र से इनका सम्बन्ध अवश्य है क्योंकि समाजशास्त्र समाज के तमाम पहलुओं का मूलभूत अध्ययन करता है जबकि समाज के अलग–अलग पहलुओं का अध्ययन करने वाले शास्त्र केवल एक पहलू का गहराई से अध्ययन करते हैं। अतः हर सामाजिक शास्त्र समाजशास्त्र का ही अंग मात्र है। समाजशास्त्र मानव के राजनीतिक पहलू का भी अध्ययन करता है क्योंकि यह उसके सामाजिक जीवन का एक पहलू है।

जो सम्बन्ध राज्य तथा समाज में है, वही सम्बन्ध राजनीतिशास्त्र तथा समाजशास्त्र में है। राज्य समाज की सेवा वाली या समाज के एक वर्ग की सेवा करने वाली संस्था मानी जाती है और यह समाज के विकास की एक निश्चित दशा में उभरती है। अतः समाज के विकास के नियमों को जाने बिना राजनीतिशास्त्र का अध्ययन नहीं किया जा सकता।

समाजशास्त्र राज्य के संगठन के बारे में जानकारी राजनीति विज्ञान से ही ग्रहण करता है। इसी प्रकार राजनीतिशास्त्र सामाजिक जीवन के तथ्यों और नियमों का अध्ययन समाजशास्त्र से ही करता है। समाजशास्त्री समूह तथा व्यक्ति के सामूहिक जीवन की प्रकृति को समझने के लिए राज्य की प्रक्रिया, राजनीतिक समूह, दलों तथा वर्गो के बारे में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक समझते हैं। राजनीति वैज्ञानिक भी समाजशास्त्र से सामूहिक जीवन के बारे में मूल्यवान ज्ञान प्राप्त करते हैं जिसका प्रयोग वे राजनीति गुटों को समझने में करते हैं। समाजशास्त्र के महत्व को प्रतिपादित करते हुए प्रो. गिडिंग्स ने लिखा है, "जिन लोगों ने समाजशास्त्र के बुनियादी सिद्धान्तों को नहीं समझा है उन्हें राजनीति विज्ञान पढ़ाना उसी प्रकार निष्फल होगा जिस प्रकार से न्यूटन के नियमों को न जानने वाले को ज्योतिष पढ़ाना।"

राजनीति विज्ञान के अध्ययन में व्यवहारवाद के विकास के साथ–साथ समाजशास्त्र का राजनीतिशास्त्र पर प्रभाव काफी बढ़ गया है। मानव का राजनीति व्यवहार समाज की परिस्थितियों एवं प्रक्रियाओं द्वारा प्रभावित होता है। राजनीतिक व्यवहार को समझने के लिए नागरिकों का राजनीतिक समाजीकरण तथा समाज की राजनीतिक संस्कृति एवं परम्पराएं जानना आवश्यक है। इसलिए समाजशास्त्र की अध्ययन पद्धति को बहुत हद तक राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में उपयोगी माना जाता है।

समाजशास्त्र का राजनीति विज्ञान पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि राजनीतिशास्त्र की एक नई शाखा राजनीतिक समाजशास्त्र स्थापित कर ली गई है। यह कहा जाता है कि आजकल राजनीति का समाजीकरण और समाज का राजनीतिकरण हो गया है, इस प्रकार दोनों, शास्त्र एक–दूसरे से घुल–मिल गये हैं।

यद्यपि राजनीति विज्ञान एवं समाजशास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध है तथापि गहराई से देखने पर क्षेत्र, विषय–वस्तु, उद्देश्य, आदि के दृष्टिकोण से दोनों में अंतर दिखलायी पड़ता है–(1) समाजशास्त्र का क्षेत्र राजनीति विज्ञान की अपेक्षा अधिक व्यापक है; (2) समाजशास्त्र राजनीति विज्ञान की अपेक्षा अधिक प्राचीन विषय है। समाजशास्त्र संगठित और अंसगठित समुदायों का अध्ययन करता है जबकि राजनीति विज्ञान केवल संगठित समुदायों का ही अध्ययन करता है; (3) राजनीति विज्ञान में केवल मनुष्यों के वैधानिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है, जबकि समाजशास्त्र में वैधानिक सम्बन्धों के साथ–साथ प्रथाओं,

शिष्टाचार, नैतिकता, आदि के दृष्टिकोण से भी विचार किया जाता है; (4) समाजशास्त्र का अध्ययन विषय व्यक्ति तथा समाज है और राजनीति विज्ञान का अध्ययन विषय राज्य हैं; (5) समाजशास्त्र एक वर्णनात्मक विषय है, जबकि राजनीति विज्ञान आदर्शात्मक विषय है।

संक्षेप में, समाजशास्त्र की जानकारी के बिना राजनीति विज्ञान का ज्ञान अधूरा है।

1.5 सारांश :

इस इकाई के अन्तर्गत हम सभी ने राजनीतिक समाजशास्त्र की रूपरेखा यथा अर्थ एवं परिभाषा विषयवस्तु के साथ–साथ विषयक्षेत्र व प्रकृति का भी अध्ययन किया है। राजनीतिक समाजशास्त्र के विशेष उपागमों जैसे–आदर्शात्मक उपागम, संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम, व्यवस्थात्मक उपागम, व्यवहारवादी उपागम व संघर्षात्मक उपागम आदि के विषय में विस्तृत ज्ञान प्राप्त किया। समाज व राजनीति के अन्तर्सम्बन्धों का भी अध्ययन किया। इस प्रकार राजनीतिक समाजशास्त्र के उपर्युक्त विश्लेषणों के अध्ययन के बाद इसे बेहतर तरीके से समझा गया है।

1.7. बोध प्रश्न :

<u>बहुविकल्पीय प्रश्न</u> :

प्र01. किताब "द फंक्शन आफ सोशल कान्फ्लिक्ट" के लेखक है–

(क) कोजर (ख) मार्क्स

(ग) डाहरेनडार्फ (घ) वेबर

प्र02. पुस्तक "ए सिस्टम एनालिसिस ऑफ पालिटिकल लाइफ" के लेखक है–

(क) डेविस ईस्टन (ख) मार्क्स

(ग) कोजर (घ) डाहरेनडार्फ

प्र03. 'क्लास एण्ड क्लास कान्फ्लिक्ट इन एन इण्डस्ट्रियल सोसाइटी' के लेखक है–

(क) मार्क्स (ख) ईस्टन

(ग) डाहरेनडार्फ (घ) कोजर

प्र04. "माडर्न पालिटिकल थियरी" के लेखक है–

(क) एस.पी.वर्मा (ख) कोजर

(ग) ईस्टन (घ) ए.आर. बाल

प्र05. हीगेल ने किस बिन्दु पर ज्यादा जोर दिया है–

(क) आदर्शवाद (ख) सत्ता

(ग) शक्ति (घ) द्वनद्ववाद

1.7. बहुविकल्पीय प्रश्नों का उत्तर :

उ01. (क) कोजर

उ02. (क) डेविड ईस्टन

उ03. (स) डाहरेनडार्फ

उ04. (क) एस.पी. वर्मा

उ05. (क) आदर्शवाद

1.8. अभ्यास प्रश्न :

<u>दीर्घउत्तरीय प्रश्न</u> :

प्र01. राजनीतिक समाजशास्त्र के अर्थ व विषय क्षेत्र की विवेचना कीजिये।

प्र02. राजनीतिक समाजशास्त्र के अध्ययन के विविध उपागमों की विवेचना कीजिये।

<u>लघुउत्तरीय प्रश्न</u> :

प्र01. राजनीतिक समाजशास्त्र की विषयवस्तु की विवेचना कीजिये?

प्र02. राजनीतिक समाजशास्त्र की दो परिभाषायें बताइयें?

प्र03. राजनीतिक व्यवस्था व समाज के अन्तर्सम्बन्धों को विश्लेषित कीजिये?

1.9. संदर्भ सूची :

1. मिचेल, बी.डी. (1978), पॉलिटिकल सोशियोलॉजी, लंदन।
2. बविस्कर, बी.एस. (1974), सोशियोलॉजी ऑफ पॉलिटिकल, पापुलर प्रकाशन, बम्बई।
3. होरोविट्स ई.वी. (1972), फाउन्डेशन्स ऑफ पॉलिटिकल, सोशियोलॉजी, हार्पर एण्ड रो पब्लिशर्स, न्यूयार्क।
4. ईस्टन, डेविड (1965), दि. करंट मीनिंग ऑफ बिहेवियरलिज्म, दि फ्री प्रेस, न्यूयार्क।
5. युलाड, एच. सेम्युअल जे. ऐल्डर्वेल्ड एण्ड मोरिस जेनोविट्स (संपादित), (1972), पॉलिटिकल बिहेवियर–ए–रीडर इन थ्योरी एण्ड रिसर्च, न्यू देहली, अमेरिंड, पब्लिशिंग हाऊस।

एम.ए. – अन्तिम वर्ष
(M.A. – Final Year)

प्रश्नपत्र – चतुर्थ
(Paper - Fourth)

प्रश्नपत्र का नाम – "राजनीतिक समाजशास्त्र"

(Paper's Name - "Political Sociology")

खण्ड – एक
(Block - One)

इकाई – दो – ''प्रजातंत्रात्मक एवं समग्रवादी व्यवस्था'

Unit – 2 - (Democratic and Totalitarian System)

लेखक :
डा. विजय कुमार वर्मा
प्रवक्ता, समाजशास्त्र
उ.प्र. विकलांग उद्धार डा. शकुन्तला मिश्रा विश्वविद्यालय
मोहान रोड, लखनऊ।

एम.ए. (अंतिम वर्ष)
(M.A. Final Year)

प्रश्न पत्र – चतुर्थ
(Paper - IVth)

प्रश्न पत्र का नाम – राजनीतिक समाजशास्त्र
(Paper's Name - Political Sociology)

(खण्ड–1)
(Block-1)

इकाई–2 : "प्रजातंत्रात्मक एवं समग्रवादी व्यवस्था"

2.0. – उद्देश्य

2.1. – प्रस्तावना

2.2. – प्रजातंत्रात्मक व्यवस्थाः

2.2.1. प्रजातंत्र : अर्थ व परिभाषा

2.2.2. प्रजातंत्र के सिद्धान्त

2.2.3. आदर्शी मूल्यों के रूप में प्रजातंत्र

2.2.4. प्रजातंत्र के गुण

2.2.5. प्रजातंत्र के दोष

2.3. – समग्रवादी व्यवस्था : अर्थ व प्रकार

2.3.1. अधिनायकतंत्र : अर्थ व परिभाषा

2.3.2. अधिनायकतंत्र के लक्षण

2.3.3. अधिनायकतंत्र के गुण

2.3.4. अधिनायकतंत्र के दोष

2.3.5. साम्यवादी दृष्टिकोण का अर्थ

2.3.6. समाजवादी दृष्टिकोण का अर्थ

2.4. – सारांश

2.5. – बोध प्रश्न

2.5.1. बहुविकल्पीय प्रश्न

2.5.2. बहुविकल्पीय प्रश्नों के उत्तर

2.6. – अभ्यास प्रश्न

2.6.1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न

2.6.2. लघुउत्तरीय प्रश्न

2.7. – संदर्भ सूची

2.0 उद्देश्य :

इस इकाई के अन्तर्गत हम सभी निम्नांकित बिन्दुओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

- प्रजातंत्र का अर्थ एवं परिभाषा
- प्रजातंत्र के सिद्धान्त
- आदर्शी मूल्यों के रूप में प्रजातंत्र
- प्रजातंत्र के गुण एवं दोष
- समग्रवादी व्यवस्था की अवधारणा
- अधिनायक तंत्र व साम्यवादी व्यवस्था का अर्थ, इत्यादि।

इस प्रकार से उपर्युक्त बिन्दुओं के अध्ययन के उपरान्त हम सभी प्रजातंत्रात्मक एवं समग्रवादी व्यवस्था के विषय में अपेक्षित जानकारी प्राप्त कर सकने में सक्षम हो सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना :

इकाई–2 के अन्तर्गत हम सभी राजनीतिक समाजशास्त्र के प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था की अवधारणा, सिद्धान्त, गुण, दोष एवं समग्रवादी व्यवस्था के अन्तर्गत इसके विभिन्न स्वरूपों जैसे अधिनायक तंत्र की अवधारणा, गुण, दोष व लक्षण इत्यादि के साथ–साथ साम्यवादी व्यवस्था के विषय में विस्तृत अध्ययन कर सकेंगे एवं अपने ज्ञान भण्डार में वृद्धि कर सकेंगे।

2.2. प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था :

राज्य के अस्तित्व के लम्बे इतिहास में परिस्थितियों व काल विशेष की आवश्यकताओं के अनुरूप शासन के प्रकार परिवर्तित होते हैं। राज्य के इतिहास में कभी भी ऐसा समय नहीं रहा जब विश्व के सभी राज्यों में शासन का कोई एक ही प्रकार सर्वत्र प्रचलित रहा हो। एक ही साथ, राजतंत्र, श्रेणीतंत्र, अधिनायकतंत्र, व लोकतंत्र जैसे शासन के अनेक प्रकार के विभिन्न राज्यों में शासन शक्ति के प्रयोग के प्रतिमान रहे हैं। आज भी ऐसे अनेक राज्य हैं जहां राजतन्त्र या श्रेणीतंत्र का ढांचा विद्यमान है, परन्तु वर्तमान शताब्दी लोकतंत्र व निरंकुशतंत्र की दो बेमेल धाराओं के प्रचलन की ही कही जाती है। आज के राज्य या तो लोकतान्त्रिक हैं या तानाशाही व्यवस्था में जकड़े होने पर भी लोकतान्त्रिक होने का दावा करते हुए दिखाई देते हैं। प्रस्तुत अध्याय में हम शासन के इन्हीं दो प्रकारों पर विचार करेंगे और यह देखने का प्रयास करेंगे कि इन दोनों शासन व्यवस्थाओं के क्या लक्षण, गुण और दोष हैं।

प्लेटो के समय से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक लोकतंत्र शब्द घृणित व निन्दनीय ही रहा है। वर्तमान समय में लोकतंत्र को राजनीतिक और सामाजिक संगठन का श्रेष्ठतम प्रकार कहा जाने लगा है। इसलिए ही आजकल का युग प्रजातंत्र का युग माना जाता है। सभी जगह यह स्वीकार किया जाने लगा है कि लोकतंत्र शासन ही मानव के विकास का श्रेष्ठतम शासन विकल्प है। अतः जिन राज्यों में प्रजातंत्र का अभाव है वहां भी शासन व्यवस्था को प्रजातांत्रिक ही बताया जाता है। इससे स्पष्ट है कि प्रजातंत्र आज भी सर्वत्र श्रद्धा से देखा जाता है। ऐसी शासन व्यवस्था का महत्व व भूमिका समझने से पहले इसका अर्थ व परिभाषा समझना आवश्यक है।

2.2.1. प्रजातंत्र/लोकतंत्र का अर्थ एवं परिभाषा :

लोकतंत्र के अर्थ पर सर्वाधिक मतभेद है। इसकी अनेक परिभाषाएं व व्याख्याएं की गई हैं। इसको आडम्बरमय कहने से लेकर सर्वोत्कृष्ट तक कहा गया है। सारटोरी तो यहां तक कहने में नहीं हिचकिचाए हैं कि "लोकतंत्र को ऐसी वस्तु के आडम्बरमय नाम के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसका वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं है।" अतः लोकतंत्र के अर्थ व परिभाषा पर सामान्य सहमति का प्रयास करना निरर्थक होगा। वर्तमान में हर शासन व्यवस्था को लोकतान्त्रिक कहा जाता है। यहां तक कि एक बार हिटलर ने लोकतान्त्रिक शासन की बात कहते हुए अपने शासन को 'जर्मन लोकतंत्र' कहना पसन्द किया था। आज प्रजातंत्र के नाम कों इतना पवित्र बना दिया गया है कि कोई भी अपने आपको अलोकतांत्रिक कहने का दुस्साहस नहीं कर सकता। मोटे तौर पर लोकतंत्र शासन का वह प्रकार होता है, जिसमें राज्य के शासन की शक्ति किसी विशेष वर्ग अथवा वर्गो में निहित न होकर सम्पूर्ण समाज के सदस्यों में निहित होती है।

डायसी ने लोकतंत्र की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "लोकतंत्र शासन का वह प्रकार है, जिसमें प्रभुत्व शक्ति समष्टि रूप में जनता के हाथ में रहती है, जिसमें जनता शासन सम्बन्धी मामले पर अपना अन्तिम नियंत्रण रखती है तथा यह निर्धारित करती है कि राज्य में किस प्रकार का शासन–सूत्र स्थापित किया जाए। राज्य के प्रकार के रूप में लोकतंत्र शासन की ही एक विधि नहीं है, अपितु वह सरकार की नियुक्ति करने, उस पर नियंत्रण रखने तथा इसे अपदस्थ करने की विधि भी है।"

अगर अब्राहम लिंकन की परिभाषा को लें तो "लोकतंत्र शासन वह शासन है जिसमें शासन जनता का, जनता के लिए और जनता द्वारा हो।"

इन परिभाषाओं को अस्वीकार करते हुए कुछ विचारक लोकतंत्र को शासन तक ही सीमित न रखकर इसे व्यापक अर्थ में देखने की बात कहते हैं। गिडिंग्स का कहना है कि "प्रजातंत्र केवल सरकार का ही रूप नहीं है वरन राज्य और समाज का रूप अथवा इन तीनों का मिश्रण भी है।" मैक्सी ने इसे और भी व्यापक अर्थ में लेते हुए लिखा है कि "बीसवीं सदी में प्रजातंत्र से तात्पर्य एक राजनीतिक नियम, शासन की विधि व समाज के ढांचे से ही नहीं है, वरन यह जीवन के उस मार्ग की खोज है जिसमें मनुष्यों की स्वतंत्र और ऐच्छिक बुद्धि के आधार पर उनमें अनुरूपता और एकीकरण लाया जा सके।" डा0 बेनीप्रसाद ने तो लोकतंत्र को जीवन का एक ढंग माना है।

उपर्युक्त अर्थ व परिभाषाओं से लोकतंत्र एक विशद एवं महत्वाकांक्षी विचार लगता है परन्तु उपरोक्त विवेचन से लोकतंत्र का अर्थ स्पष्ट होने के स्थान पर कुछ भ्रांति ही बढ़ी है। लोकतंत्र की अवधारणा या प्रत्यय के रूप में एक अर्थ नहीं है वरन इसके तीन अन्तःसम्बन्धित अर्थ किये जाते हैं। यह अर्थ हैं–

(क) यह निर्णय करने की विधि है, (ख) यह निर्णय लेने के सिद्धान्तों का समूह या सेट है, और (ग) यह आदर्शी मूल्यों का समूह है।

इनका तात्पर्य है कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था में लोकतंत्र को निर्देशित करने वाले मूल्यों व निर्णय लेने की प्रक्रिया का मोटा उद्देश्य वर्तमान के आदर्शमय नैतिकता के अन्तर्गत ही समस्त सार्वजनिक कार्यो का दिन–प्रतिदिन सम्पादन हो। हर राजनीतिक समाज में अंतिम गन्तव्यों का निर्धारण करना होता है। यह गन्तव्य क्या हों? इन गन्तव्यों का निर्धारण कौन और किस प्रकार करें? हर राजनीतिक समाज के सामने मौलिक प्रश्न यही होते हैं। इन्हीं गन्तव्यों के अन्तिम उद्देश्यों को समाज के आदर्शो का नाम दिया जाता है। हर समाज में इन आदर्शो की रक्षा व प्राप्ति के लिए संरचनात्मक व्यवस्थाएं रहती हैं। यह लोकतंत्रों में ही नहीं, तानाशाही व्यवस्था में भी रहती हैं। परन्तु इन संरचनात्मक व्यवस्थाओं से सम्बन्धित प्रक्रियाएं लोकतंत्र में और प्रकार की तथा तानाशाही व्यवस्था में और प्रकार की होती हैं। अगर सम्पूर्ण समाज के

लिए किए जाने वाले निर्णयों को लेने के सिद्धान्त और विधियां ऐसी हों जिसमें सम्पूर्ण समाज सहभागी रहें तो वह राजनीतिक व्यवस्था लोकतांत्रिक कही जाती है, परन्तु अगर एक ही व्यक्ति या व्यक्ति–समूह सम्पूर्ण समाज के लिए निर्णय लेता है तो वह व्यवस्था तानाशाही मानी जाती है। अतः लोकतंत्र का महत्वपूर्ण पक्ष निर्णय लेने का ढंग या तरीका है।

(क) निर्णय करने के ढंग के रूप में लोकतंत्र : यहां यह प्रश्न उठता है कि किस प्रकार और किसके द्वारा लिये गये निर्णयों को ही लोकतान्त्रिक विधि से लिये गये निर्णय माना जाए? इन्हीं प्रश्नों का उत्तर आज से करीब दो हजार वर्ष पूर्व अरस्तू ने भी दिया था जो बहुत कुछ आज भी वैध कहा जा सकता है। अरस्तू ने कहा था कि "निर्णय लेने के लोकतान्त्रिक ढंग में पदाधिकारियों का चुनाव सब में से सबके द्वारा तथा सबका हर एक पर और प्रत्येक का सब पर शासन होता है," अर्थात् लोकतान्त्रिक ढंग से किया गया निर्णय सम्पूर्ण समाज के द्वारा लिया गया निर्णय ही कहा जा सकता है। इससे तात्पर्य यह है कि लोकतंत्र प्रकृति में राजनीतिक समाज में निर्णय लेने का एक विशेष ढंग और उसकी विशेष पूर्व शर्ते होती हैं। इनका विवेचन करके ही यह समझा जा सकता है कि लोकतंत्र का निर्णय लेने के रूप में क्या अर्थ है? अर्थात् वही निर्णय लोकतान्त्रिक ढंग से लिये हुए कहे जाते हैं जिन में–

(i) विचार–विनिमय व अनुनयनता,

(ii) जन–सहभागिता,

(iii) बहुमतता,

(iv) संवैधानिकता और

(v) अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा होती है।

लोकतान्त्रिक ढंग से लिये गये निर्णयों का आधार खुला विचार–विनिमय होता है। सम्पूर्ण राजनीतिक समाज के लिए किये जाने वाले निर्णयों में अनुनयन की बहुत बड़ी भूमिका रहती है। लोकतंत्र में निर्णय चाहे किसी भी स्तर पर लिये जायें, उनमें जोर–जबरदस्ती के तत्व के बजाय विचार–विमर्श, वाद–विवाद और समझाने–बुझाने का अंश प्रधान रहता है। चुनाव भी एक तरह से विचार–विनिमय द्वारा निर्णय लेना ही है। अतः स्वतंत्र व उन्मुक्त प्रचार पर आधारित चुनाव लोकतान्त्रिक निर्णय प्रक्रिया का महत्वपूर्ण आधार माने जाते हैं। इस प्रकार निर्णय लेने के ढंग के रूप में लोकतंत्र का आशय विचार–विमर्श और सहमति से राजनीतिक समाज से सम्बन्धित सभी निर्णय लेना है।

विचार–विमर्श और सहमति की निर्णय प्रक्रिया में कुछ या अधिकांश लोगों का सम्मिलित होना किसी निर्णय ढंग को लोकतान्त्रिक नहीं बनाता है। इसके लिए निर्णय प्रक्रिया में सारे जन–समाज की सहभागिता का होना अनिवार्य है, अर्थात् निर्णय लेने में राजनीतिक व्यवस्था के सभी नागरिकों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्मिलन आवश्यक है। अगर किसी निर्णय विधि से अधिकांश व्यक्तियों को वंचित रखा गया हो तो वह निर्णय प्रक्रिया लोकतान्त्रिक नहीं कही जा सकती। यहां यह ध्यान रखना है कि जनता के निर्णय प्रक्रिया में सम्मिलित होने के अवसर होने पर भी अगर बहुत बड़ा जन–भाग उससे उदासीन रहकर विलग रहे तो इसे निर्णयों की लोकतान्त्रिका पर आंच नहीं माना जाता है। यहां महत्वपूर्ण बात यह नहीं है कि समाज के कितने लोग निर्णय प्रक्रिया में सहभागी होते हैं वरन यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि कितने लोगों को ऐसा करने के साधन व अवसर प्राप्त हैं। निर्णय प्रक्रिया में सम्पूर्ण समाज को सहभागी बनाने का दूसरा नाम ही लोकतंत्र है। नियतकालिक चुनाव तथा वयस्क मताधिकार, जन–सहभागिता के उपकरण हैं।

विचार–विमर्श तथा जन–सहभागिता के सबको समान अवसर निर्णय विधि को अवश्य ही लोकतान्त्रिक बनाते हैं परन्तु शायद ऐसा सम्भव नहीं कि समाज से सम्बन्धित हर निर्णय पर समस्त जनता

की सहमति होती हो। इस सहमति के अभाव में निर्णय लेने की कौन–सी विधि अपनाई जाए कि निर्णय प्रक्रिया की लोकतान्त्रिक प्रकृति बनी रहे और शीघ्रता से निर्णय लिये जा सकें। वैसे तो समस्त जनता की सहमति से लिया गया निर्णय आदर्श कहा जा सकता है, पर व्यवहार में सबके सब निर्णयों पर सहमति असम्भव नही ंतो दुष्कर अवश्य लगती है। इसलिए सबकी सहमति के अभाव में निर्णय बहुमत के आधार पर किये जाते हैं। इस प्रकार बहुमत के आधार पर किए गए निर्णय लोकतांत्रिक ही माने जाते हैं, क्योंकि इन निर्णयों में अधिकांश लोगों की सहमति सम्मिलित रहती है। यहां यह बात ध्यान देने की है कि बहुमत के आधार पर निर्णय लेना, सबकी सहमति के बाद, निर्णय लेने की श्रेष्ठतम विधि कहा जाता है। अगर बहुमत के आधार पर निर्णय नहीं लिये जाएं तो निर्णय की प्रक्रिया अलोकतान्त्रिक कहलाती है। साथ ही निर्णयों में बहुमत के आधार का परित्याग करना, लोकतान्त्रिक निर्णय प्रक्रिया का ही, परित्याग कहा जा सकता है। यही कारण है कि लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में चुनाव परिणामों से लेकर विधान मण्डलों व मंत्री परिषदों तक में निर्णय बहुमत के आधार पर किये जाते हैं। अभी तक मनुष्य निर्णय लेने का इससे श्रेष्ठतर विकल्प नहीं खोज पाया है। अतः लोकतांत्रिक निर्णय प्रक्रिया की यह आवश्यक शर्त है कि हर स्तर पर निर्णय बहुमत के आधार पर लिये जाएं। यहां यह भी ध्यान रखना है कि बहुमत के अर्थ पर गम्भीर विवाद है। हम इस विवाद में नहीं पड़कर इतना ही कहेंगे कि लोकतंत्र में विभिन्न विकल्पों में से जिसका सापेक्ष बहुमत होता है वही विकल्प निर्णय मान लिया जाता है।

उपरोक्त तथ्य निर्णय के प्रक्रियात्मक पहलुओं से सम्बद्ध है, पर निर्णय प्रक्रियाओं को व्यावहारिकता प्रदान करने के लिए संरचनात्मक आधार भी होना चाहिए। इसलिए ही हर लोकतान्त्रिक समाज में निर्णय लेने की प्रक्रियाओं के संरचनात्मक आधार संविधान द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। उदाहरण के लिए, यह कहा जा सकता है कि जन–सहभागिता को सम्भव बनाने के लिए सभी लोकतान्त्रिक संविधानों में नियतकालिक चुनावों की व्यवस्था की जाती है। लोकतान्त्रिक ढंग से लिया गया निर्णय संविधान द्वारा व्यवस्थित साधनों की परिधि में ही किया जाता है। हड़ताल, हिंसात्मक तोड़–फोड़ व धरनों के द्वारा शासकों को निर्णय विशेष लेने के लिए बाध्य करना वास्तव में असंवैधानिक साधनों के प्रयोग के कारण निर्णय का अलोकतान्त्रिक ढंग माना जाता है। निर्णय प्रक्रिया को लोकतान्त्रिक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि संविधान में निम्नलिखित व्यवस्थाएं हों–(1) जनता के सामने प्रतियोगी पसंदों के अनेक विकल्प, (2) मताधिकार की पूर्ण समानता, (3) निर्वाचन व निर्वाचित होने की पूर्ण स्वतंत्रता, और (4) प्रतिनिधित्व की अधिकतम समरूपता हो।

इस प्रकार किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में निर्णय की विधि को लोकतान्त्रिक बनाने के लिए संवैधानिकता ही निर्णयों का एक मात्र आधार होती है। जब किसी राजनीतिक समाज में बहुमत के आधार पर निर्णय लिये जाते हैं तो यह सम्भावना तो रहती ही है कि कुछ लोग इन निर्णयों से सहमत नहीं हों। ऐसी अवस्था में बहुमत के निर्णय ऐसे नहीं होने चाहिए कि उनसे अल्पसंख्यकों का अहित हो। अनेक समाजों में अनेक वर्ग, धर्म, जातियां तथा संस्कृतियां एक साथ विद्यमान रहती हैं। बहुमत के आधार पर कुछ धर्मो, जातियों या भाषाओं के लोगों के हितों के प्रतिकूल भी निर्णय लिये जा सकते हैं। बहुमत के द्वारा लिये गये निर्णयों से अल्पसंख्यकों के अधिकारों व स्वतंत्रताओं का हनन भी किया जा सकता है। ऐसे बहुमत के निर्णय लोकतन्त्र की भावना के प्रतिकूल माने जाते हैं। अतः निर्णय प्रक्रिया की लोकतान्त्रिकता के लिए आवश्यक है, कि बहुमत के बलबूते पर ऐसे निर्णय नहीं लिये जाएं जिनमें कुछ लोगों के उचित हितों की अवहेलना हो। यह तभी सम्भव होता है जब बहुमत द्वारा लिए गए निर्णयों में अल्पसंख्यकों के हितों की भी सुरक्षा की व्यवस्था निहित हो।

लोकतान्त्रिक निर्णय प्रक्रिया के लिए यह आवश्यक है कि एक सीमा तक विचार–विमर्श, बहस व वाद–विवाद की छूट रहे और अन्त में बहुमत के आधार पर निर्णय ले लिए जाएं तथा बहुमत द्वारा लिए गए ऐसे निर्णय सब स्वीकार कर लें। अल्पसंख्यकों को भी बहुमत के ऐसे निर्णय स्वीकार होंगे, क्योंकि इनसे उनके हितों को नुकसान पहुंचने की सम्भावना नहीं होती। परन्तु बहुमत के आधार पर किए गए निर्णय कुछ लोगों का अहित करने वाले होने पर लोकतान्त्रिक निर्णय प्रक्रिया के प्रतिकूल माने जाने लगते हैं। इससे समाज में सहमति तथा आधारभूत मतैक्य समाप्त हो जाता है और समाज के टूटने का मार्ग खुल जाता है। इससे लोकतंत्र का आधार लुप्त हो जाता है। अतः गहराई से देखने पर पता चलता है कि लोकतान्त्रिक राजनीतिक प्रक्रिया वस्तुतः विचार–विमर्श, वाद–विवाद, सामंजस्य और लेन–देन की ही प्रक्रिया है। जिस राजनीतिक समाज में निर्णय लेने का ढंग उपरोक्त तथ्यों के अनुरूप रहता है तो वह राजनीतिक व्यवस्था लोकतान्त्रिक तथा उस समाज के लोगों द्वारा लिए गए निर्णय लोकतान्त्रिक ढंग से लिए गए निर्णय कहे जाएंगे। इन तथ्यों में से किसी एक की अवहेलना या अभाव सम्पूर्ण व्यवस्था की प्रकृति में ही मौलिक परिवर्तन ला देता है। अतः लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिए यह अनिवार्य है कि निर्णय, आपसी विचार–विमर्श, जन सहभागिता और बहुमत के आधार पर लिए जाएं अगर ऐसे निर्णय संवैधानिकतायुक्त व अल्पसंख्यकों के हितों के पोषक हों तो वह लोकतंत्र के सुदृढ़ आधार स्तम्भ हो जाते हैं। इस तरह, निर्णय लेने के ढंग के रूप में लोकतंत्र ऐसी व्यवस्था है जिसमें समाज के लिए व्यवहार के मानदंड स्थापित होते हैं और व्यक्ति की राजनीतिक गतिविधियों का सुनिश्चित प्रतिमान प्रकट होता है।

(ख) निर्णय लेने के सिद्धान्तों के रूप में लोकतंत्र : समाज में जो भी राजनीतिक निर्णय लिए जाएं उनका कुछ सिद्धान्तों पर आधारित होना आवश्यक है अन्यथा निर्णयों में न तो समरूपता रहेंगी और न ही निर्णय दिशात्मक एकता–युक्त बन पाएंगे। इसीलिए हर राजनीतिक समाज में कुछ निश्चित सिद्धान्तों की परिधि होती है जिसके दायरे में लिए गए निर्णय ही दिशात्मक एकता का लक्षण परिलक्षित कर सकते हैं। एक निश्चित सिद्धान्त लोकतंत्रों व निरंकुशतंत्रों में अनिवार्यतः पाये जाते हैं। दोनों प्रकार की प्रणालियों में इन सिद्धान्तों की मौलिक असमानताएं इन दोनों को भिन्न–भिन्न ही नहीं बनाती हैं, अपितु इन्हें एक दूसरे के प्रतिकूल प्रणालियां बना देती हैं। लोकतान्त्रिक प्रणाली उस राजनीतिक व्यवस्था में विद्यमान रह सकती हैं जहां समाज के सम्बन्ध में निर्णय लेने के आधार स्वरूप कुछ सिद्धान्त व्यवहार में प्रयुक्त होते हैं। इन सिद्धान्तों पर आधारित निर्णय ही लोकतान्त्रिक ढंग से लिए गए निर्णय कहे जा सकते हैं।

2.2.2. प्रजातंत्र के सिद्धान्त :

(1) प्रतिनिधि सरकार का सिद्धान्त।
(2) उत्तरदायी सरकार का सिद्धान्त।
(3) संवैधानिक सरकार का सिद्धान्त।
(4) प्रतियोगी राजनीति का सिद्धान्त।
(5) लोकप्रिय सम्प्रभुता का सिद्धान्त।

किसी भी शासक व्यवस्था को लोकतान्त्रिक तभी कहा जाता है जब राजनीतिक व्यवस्था में निर्णय लेने का कार्य जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा ही सम्पादित हो, अर्थात लोकतान्त्रिक व्यवस्था में सरकार का गठन प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिए। आधुनिक लोकतंत्रों में नीति–निर्माताओं अथवा शासन प्रतिनिधियों को एक निश्चित अवधि के लिए जनता द्वारा चुना जाता है। इस निश्चित अवधि की समाप्ति पर शासन प्रतिनिधियों को फिर जनता के सामने पेश होना पड़ता है तथा

जनता उसके द्वारा किये गये कार्यो का लेखा–जोखा लेकर उन्हें पुनः निर्वाचित कर सकती है या उनके स्थान पर नेताओं का दूसरा सैट ला सकती है। अतः नियतकालिक चुनाव शासन कर्त्ताओं को सही अर्थो में जनप्रतिनिधि बनाए रखने की व्यवस्था करता है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में अंतिम सत्ता जनता में निवास करती है। जनता की यह सत्ता निर्वाचन के माध्यम से प्रतिनिधियों को प्रदान कर दी जाती है। अतः प्रतिनिधि सरकार का होना लोकतंत्र की व्यवस्था करता है, क्योंकि राजनीतिक समाज में निर्णयकर्त्ता केवल जनप्रतिनिधि होते हैं।

शासन का प्रतिनिधि स्वरूप ही किसी राजनीतिक व्यवस्था को लोकतान्त्रिक कहने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि शासन–शक्ति के धारक अपने हर निर्णय व कार्य के लिए जनता की धरोहर के रूप में प्राप्त रहती है तथा इस सत्ता का उन्हें जनता के हित में, जनता की उन्नति व प्रगति के लिए ही प्रयोग करना होता है। अगर शासक ऐसा नहीं करते हैं तो वह न जनता के सही प्रतिनिधि रह पाते हैं और न ही उत्तरदायी कहे जा सकते हैं। केवल वही राजनीतिक समाज लोकतान्त्रिक माने जाते हैं। जहां शासक निरन्तर उत्तरदायित्व निभाते हैं। अगर शासक उत्तरदायित्व न निभाएं तो उनको हटाने की व्यवस्था रहती है। नियतकालिक चुनाव शासकों को प्रभावशाली ढंग से नियन्त्रित रखने का अवसर प्रदान करते हैं। यही कारण है कि स्वतंत्र व नियतकालिक चुनाव व्यवस्था को लोकतंत्र की जीवनरक्षक 'डोर' का नाम दिया जाता है। चुनाव दोहरे ढंग से किसी व्यवस्था को लोकतान्त्रिक बनाने की भूमिका अदा करते हैं। प्रथम, तो इससे लोकप्रिय नियन्त्रण की व्यवस्था होती है तथा दूसरे इससे जनता के प्रतिनिधि ही शासकों के रूप में रहते हैं।

लोकतंत्र में हर व्यक्ति को राजनीतिक स्वतंत्रता रहती है। वह अपने हितों की रक्षा के लिए किसी भी दल का सदस्य बन सकता है तथा किसी भी व्यक्ति को अपने प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित करने के लिए मत दे सकता है। राजनीतिक स्वतंत्रता की व्यावहारिकता ही प्रतियोगी राजनीति कही जाती है। राजनीतिक व्यवस्था में प्रतियोगी राजनीतिक के लिए यह आवश्यक है कि अनेक संगठन, दल व समूह, प्रतियोगी रूप में उस व्यवस्था में सक्रिय रहें। राजनीतिक स्वतंत्रता की अवस्था में ही राजनीतिक दल बनकर जनता के सामने भिन्न–भिन्न प्रकार के दृष्टिकोण एवं नीति सम्बन्धी विकल्प प्रस्तुत कर सकते हैं। इनके द्वारा चुनावों में जनता के सामने अनेक विकल्पों की व्यवस्था होती है तथा जनता इनमें में किसी एक को पसंद करके अपने मन की अभिव्यक्ति करती है। अगर किसी समाज में केवल एक ही विकल्प हो और इस विकल्प के कारण जनता को इसी का समर्थन करना पड़ता हो तो ऐसी राजनीति को प्रतियोगी राजनीति नहीं कहा जा सकता और इसके अभाव में लोकतंत्र नहीं हो सकता है। अतः लोकतंत्र की 'जीवनरेखा' ही प्रतियोगी राजनीति है। राजनीतिक समाज में प्रतियोगी राजनीति की व्यवस्था करने के लिए अनिवार्यताएं होती हैं–(1) राजनीतिक गतिविधियों की पूर्ण स्वतंत्रता, (2) दो या दो से अधिक प्रतियोगी दलों या समूहों के रूप में वैकल्पिक पसंदों की विद्यमानता, (3) मताधिकार की पूर्ण समानता अर्थात सर्वव्यापी वयस्क मताधिकार की व्यवस्था, (4) प्रतिनिधित्व की अधिकतम एकरूपता, और (5) नियतकालिक चुनाव।

उपरोक्त व्यवस्थाओं के अभाव में किसी भी देश की राजनीति प्रतियोगी नहीं बन सकती है। साम्यवादी राज्यों या अन्य एकदलीय व्यवस्थाओं वाले राज्यों में प्रतिनिधि सरकार, उत्तरदायी सरकार तथा संवैधानिक सरकार की संरचनात्मक व्यवस्थाएं रहती हैं परन्तु प्रतियोगी राजनीति का अभाव इनको लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं की श्रेणी में नहीं आने देता है। जैसे साम्यवादी राज्यों में नियतकालिक चुनाव होते हैं तथा मतदान प्रतिशत भी करीब–करीब शत–प्रतिशत रहता है। परन्तु मतदाता के सामने चुनाव उम्मीदवार के रूप में एक ही व्यक्ति के होने के कारण कोई विकल्प नहीं रहता हैं। इससे इसी प्रत्याशी

का, जो एकमात्र उम्मीदवार के रूप में खड़ा है, समर्थन करना उसकी पसंद का सही प्रकाशन नहीं है। इसके लिए कई प्रत्याशियों का होना आवश्यक है। इससे स्पष्ट है कि लोकतंत्र की 'संजीवनी' प्रतियोगी राजनीति ही होती है।

लोकतंत्र की परिभाषा में यह स्पष्ट किया गया है कि इस व्यवस्था में शक्ति का स्रोत जनता होती है। जब हम यह कहते हैं कि जनता अपने मत सम्बंधी अधिकार के प्रयोग द्वारा संविधान को अपनी इच्छा के अनुकूल बना सकती है अथवा वह उसके द्वारा अपने प्रतिनिधियों पर नियंत्रण रख सकती है तो इसका तात्पर्य यही होता है कि संप्रभुत्वशक्ति जनता के हाथों में रहती है। इसका यह अर्थ है कि राज्य में जनता सर्वोपरि एवं संप्रभु होती है। क्योंकि उसकी ही इच्छा के अनुसार राज्य शक्ति का प्रयोग करता है। मताधिकार के कारण शासन–सम्बन्धी अन्तिम शक्ति जनता में निहित रहती है। अतः हम जनता को संप्रभु कहते हैं और उसमे निहित शक्ति को जनता की सम्प्रभुता कहा जाता है। लोकतान्त्रिक समाज की पहचान ही जनता की सम्प्रभुता है। इसके माध्यम से ही जनता सरकार को प्रतिनिधि, उत्तरदायी रखने की प्रभावशाली व्यवस्था माना गया है। अतः लोकतान्त्रिक व्यवस्था में जनता की सम्प्रभुता का सिद्धान्त अत्यधिक महत्व का है।

2.2.3 आदर्शी मूल्यों के रूप में प्रजातंत्र :

लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली की आधारभूत कसौटी इसकी मूल्य व्यवस्था में निहित है। इन्ही मूल्यों के आधार पर किसी व्यवस्था को लोकतांत्रिक या अलोकतांत्रिक कहा जा सकता है। कोरी तथा अब्राहम ने लोकतान्त्रिक समाज के निम्नलिखित मूल्यों को आधारभूत बताया है–(1) व्यक्तिगत व्यक्तित्व का सम्मान, (2) व्यक्तिगत स्वतंत्रता, (3) विवेक में विश्वास, (4) समानता, (5) न्याय और (6) विधि का शासन या संविधानवाद।

मानव समाजों में कुछ आदर्शो व मूल्यों की व्यवस्था से उनसे भी उच्चतर आदर्श उपलब्ध हो जाते हैं। हर समाज में कुछ ऐसे मूल्य होते हैं जिनकी व्यवस्था ही इसलिए की जाती है कि जिससे समाज उनसे भी श्रेष्ठतर मूल्यों को प्राप्त करने के मार्ग पर आगे बढ़ सकें। व्यक्ति का स्वतंत्रता व सामाजिक समानता में विश्वास ही इसलिए होता है कि इनके सहारे उसके व्यक्तित्व के विकास का सर्वश्रेष्ठ वातावरण प्रस्तुत होता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए यह अनिवार्य है कि व्यक्तिगत व्यक्तित्व का सम्मान किया जाय जिससे हर व्यक्ति अपने ढंग से, बेरोकटोक अपनी पूर्णता के मार्ग पर आगे बढ़ सके। लोकतान्त्रिक समाज का यह आदर्श या मूल्य सर्वाधिक महत्व का माना जाता है। हर व्यक्ति के लिए स्व–अभिव्यक्ति का अवसर व साधन महत्व रखते हैं। मनुष्य के विकास में व्यक्तित्व के भौतिक व बाहरी पहलुओं से कहीं अधिक महत्व उसके आंतरिक पहलुओं का है। मनुष्य चाहता है कि वह परिपूर्ण बने। इसके लिए यह आवश्यक कि उसके व्यक्तिगत व्यक्तित्व का मान–सम्मान हो। इसके अभाव में व्यक्ति के पास सब कुछ होते हुए भी उसे रिक्तता या कुछ कमी महसूस होती है। अतः लोकतंत्र के दृष्टिकोण में, सर्वोच्च मूल्य व राजनीतियों का अन्तिम ध्येय, व्यक्ति की मुक्ति व व्यक्तित्व का सम्मान करना है। यहां यह ध्यान रखना होगा कि व्यक्तिगत व्यक्तित्व के सम्मान का मूल्य राजनीतियों में अन्य मूल्यों की विद्यमानता को अस्वीकार नहीं करता है। व्यक्तियों व समूहों के और भी श्रेष्ठतर आदर्श हो सकते हैं। ये मूल्य वास्तव में इनका विरोध नहीं है। यह तो वास्तव में अन्य आदर्शो व मूल्यों की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को अनिवार्यतः उन्मुक्त बना देता है। अतः लोकतंत्र व्यवस्था का सबसे अधिक महत्वपूर्ण मूल्य, जिससे अन्य मूल्यों की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है, व्यक्तिगत व्यक्तित्व का सम्मान है। वास्तव में लोकतान्त्रिक व्यवस्था का यह ऐसा आधार स्तम्भ है जिसके सहारे अन्य मूल्य भी प्राप्त किये जा सकते हैं।

लोकतान्त्रिक समाज का दूसरा महत्वपूर्ण मूल्य स्वतंत्रता का है। लोकतंत्र के विचार के इतिहास में इस शब्द का कई अर्थो में प्रयोग हुआ है। एक राजनीतिक आदर्श के रूप में स्वतंत्रता के नकारात्मक और सकारात्मक दो पहलू माने जाते हैं। इसके नकारात्मक पहलू में स्वतंत्रता का अर्थ बन्धनों का अभाव है, तथा सकारात्मक रूप में इसका अर्थ जीवन की उन परिस्थितियों व स्थितियों के होने से लिया जाता है जिसमें व्यक्ति अपने सही स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। इसके अर्थ के नकारात्मक व सकारात्मक पहलू आपस में बेमेल पड़ते हैं। इसलिए स्वतंत्रता यह अर्थ सभी प्रकार के प्रतिबन्धों का अभाव, अराजकता व अव्यवस्था का मार्ग तैयार करता है जो इसके दूसरे अर्थ को अव्यावहारिक बना देता है। अतः लोकतान्त्रिक मूल्य में स्वतंत्रता का सही अर्थ समझना आवश्यक है।

सीले के अनुसार 'स्वतंत्रता अति शासन का विलोम है।' लास्की की मान्यता है कि स्वतंत्रता वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति बिना किसी बाहरी बाधा के अपने जीवन के विकास के तरीके को चुन सकता है। अतः स्वतंत्रता सब प्रकार के प्रतिबंधों का अभाव नहीं, अपितु अनुचित के स्थान पर उचित प्रतिबंधों की व्यवस्था है, अर्थात् स्वतंत्रता का तात्पर्य नियंत्रणों के अभाव, उच्छृंखलता से न होकर उस नियंत्रित स्वतन्त्रता से है जो उचित प्रतिबंधों द्वारा मर्यादित हो। लोकतंत्र में स्वतंत्रता का यही अर्थ लिया जाता है। इसी अर्थ में यह लोकतान्त्रिक समाजों में सर्वप्रिय मूल्य के रूप में अपनाया जाता है। अतः स्वतंत्रता का लोकतान्त्रिक मूल्य के रूप में तात्पर्य वैयक्तिक व्यवहार की नियमितता और मर्यादा से है। इसका सम्बन्ध आवश्यक रूप से समाज की इकाई के रूप में व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास से होता है जिससे व्यक्तिगत व्यक्तित्व का सम्मान हो सके।

अब्राहम का कहना है कि 'लोकतांन्त्रिक आदर्श में यह धारणा सन्निहित है कि मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है जो कार्य करने के सिद्धान्तों का निर्णय करने और अपनी निजी इच्छाओं को उन सिद्धान्तों के अधीनस्थ बनाए रखने में समर्थ है। वास्तव में यह धारणा अपने आप में बड़ी महत्वपूर्ण है, क्योंकि यदि व्यक्ति विवेक की पुकार नहीं सुनेंगे तो लोकतंत्र एक स्थायी शासन प्रणाली कभी नहीं बन सकेगी। व्यक्तियों के परस्पर विरोधी दावों, उद्देश्यों और हितों में विवाद और वार्त द्वारा तब तक कभी सामंजस्य स्थापित नहीं हो सकता जब तक कि ऐसे सामान्य स्वीकृत नियमों का अस्तित्व न हो, जिनके आधार पर वार्ता या विवाद में किस पक्ष की जीत मानी जाएगी इसका, निर्णय न किया जा सके। इन नियमों में सबसे साधारण और स्पष्ट नियम तो यही है कि बहुमत का निर्णय और विचार ही मान्य होना चाहिए। यहां यह ध्यान रखना होगा कि बहुमत का कोरा सिद्धान्त भी उसी प्रकार अविवेकपूर्ण है जिस प्रकार कि 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली धारणा। मनुष्य केवल विवेकी यंत्र ही नहीं है अपितु वह भावनाओं का पुतला भी है। अतः लोकतान्त्रिक आदर्श को यह मानकर चलना होगा कि प्रयत्नों से मनुष्य को भावनाओं के स्तर से विवेक के स्तर पर लाया जा सकता है जिससे वह अपने मतभेदों को बातचीत करके या कुछ सिद्धान्तों का सहारा लेकर तय कर सके। इस प्रकार लोकतान्त्रिक आदर्श में मनुष्य की विवकेशीलता की धारणा सन्निहित होनी चाहिए। अगर मनुष्य की विवेकशीलता की बात छोड़ दी जाय तो लोकतान्त्रिक समाज के स्थान पर अराजक समाज ही स्थापित होगा।

ऐसा कहा जाता है कि स्वतंत्रता समानता से अविच्छिन्न रूप से सम्बन्धित है। इसलिए ही शायद आशीर्वादम ने यह कहा है कि 'फ्रांस के क्रान्तिकारियों ने जब युद्ध घोषणा करते हुए स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व का नारा लगाया था तब वे न तो पागल थे और न मूर्ख। इसका संकेत इस बात की ओर है कि स्वतंत्रता के मूल्य की क्रियान्विति के लिए समानता के मूल्य का अस्तित्व आवश्यक है। समानता प्रजातंत्र की स्थापना का एक प्रधान तत्व है। इसका सामान्य अर्थ उन विषमताओं के अभाव से लिया जाता है जिसके कारण असमानता पनपती है। समाज में दो प्रकार की असमानता पाई जाती है। एक प्रकार

असमानता वह है जिसका मूल व्यक्तियों की प्राकृतिक असमानता है, परन्तु इस प्रकार की असमानता का कोई निराकरण सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए इस समानता से किसी को शिकायत नहीं रहती है। दूसरे प्रकार असमानता वह है जिसका मूल समाज द्वारा उत्पन्न की हुई विषमता होती है। हम देखते है कि बुद्धि, बल और प्रतिभा की दृष्टि से अच्छे होने पर भी निर्धन व्यक्तियों के बच्चे अपने व्यक्तित्व का वैसा विकास नहीं कर पाते, जैसा विकास बुद्धि, बल और प्रतिभा की दृष्टि से निम्नतर स्तर के होते हुए भी, धनिकों के बच्चे कर लेते हैं। इस प्रकार की असमानता का कारण समाज द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों का वह वैषम्य होता है जिसके कारण सब लोगों को व्यक्तित्व विकास का समान अवसर प्राप्त नहीं हो पाता है। अतः राजनीतिक समाज में समानता का तात्पर्य ऐसी परिस्थितियों के अस्तित्व से होता है, जिसके कारण सब व्यक्तियों को व्यक्तित्व विकास के समान अवसर प्राप्त हो सकें।

लोकतान्त्रिक दृष्टि से समानता का राजनीतिक पहलू महत्वपूर्ण है। समानता के राजनीतिक रूप का अर्थ यह है कि राजनीतिक व्यवस्था में सभी वयस्क नागरिकों को समान नागरिक और राजनीतिक अधिकार उपलब्ध हों। राजनीतिक समानता का यह आशय नहीं है कि राज्य में प्रत्येक व्यक्ति समान राजनीतिक अधिकारो का प्रयोग कर सके। समानता का यह पक्ष किसी समाज के नागरिकों को शासन–प्रक्रिया में सम्मिलित करने की व्यवस्था मानता है। इससे सभी व्यक्तियों को समान रूप से शासन में भाग लेने का अवसर मिल जाता है। इसमें वोट देना, निर्वाचित पद के लिए उम्मीदवार होना व सरकारी पद प्राप्त करना प्रमुख है। इन सब में सबको अवसरों की समानता देना ही राजनीतिक समानता कही जाती है। यह लोकतंत्र का आधार मानी जाती है। समानता का दूसरा पक्ष नागरिक समानता है। उसका तात्पर्य सभी को नागरिकता के समान अवसर प्राप्त होने से होता है। नागरिक समानता की अवस्था में व्यक्ति के मूल अधिकार सुरक्षित होने चाहिए तथा सभी को कानून का संरक्षण समान रूप से प्राप्त होना चाहिये।

2.2.4 प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था के गुण :

लोकतंत्र शासन व्यवस्था की श्रेष्ठता को सभी स्वीकार करते हैं। शायद इसलिए ही आज दुनिया का हर राज्य लोकतान्त्रिक होने का दावा करने लगा है। इस प्रणाली के गुणों की विद्वानों ने लम्बी–लम्बी सूचियां प्रस्तुत की हैं। इसके पक्ष में व्यावहारिक तर्को से लेकर नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक तर्क तक दिये गये हैं। प्रो0 डब्लू0 ई0 हाकिंग ने तो लोकतंत्र व्यवस्था के पक्ष को पुष्ट करते हुए यहां तक कहा है कि **'लोकतंत्र चेतन और उप–चेतन मन की एकता है।'** सी0डी0 बर्न्स ने लोकतंत्र का गुणगान करते हुए लिखा है कि लोकतंत्र आत्म शिक्षा का सर्वोत्तम साधन है। इससे स्पष्ट है कि लोकतंत्र प्रणाली की श्रेष्ठता तथा इससे होने वाले लाभों को सभी स्वीकार करते हैं। संक्षेप में, इस शासन व्यवस्था के गुण निम्नलिखित माने जा सकते हैं–

(1) शासक जन–कल्याण के प्रति सजग, अनुक्रियाशील तथा जागरूक रहते हैं।

(2) जन शिक्षण का श्रेष्ठतम माध्यम है।

(3) सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक सुधार के लिए समुचित वातावरण की व्यवस्था होती है।

(4) उच्च कोटि का राष्ट्रीय चरित्र विकसित करने में सहायक है।

(5) स्वावलम्बन व व्यक्तिगत उत्तरदायित्व की भावना का विकास करता है।

(6) देशभक्ति का स्रोत है।

(7) क्रान्ति से सुरक्षा प्रदान करता है।

(8) शासन कार्यो में जन–सहभागिता की व्यवस्था करता है।

(9) व्यक्ति की गरिमा का सम्मान तथा समानता का आदर्श प्रस्तुत करता है।

लोकतंत्र प्रणाली के उपरोक्त गुण यह स्पष्ट करते हैं कि इस व्यवस्था में कोई भी व्यक्ति यह शिकायत नहीं कर सकता कि उसे अपनी बात कहने का अवसर नहीं मिला है। क्योंकि लोकतान्त्रिक व्यवस्था का पहला काम यही है वह जनता को अपनी बात कहने के अधिकाधिक अवसर दे तथा जनता की जिज्ञासा का समाधान करें। हरमन फाइनर का कहना है कि 'प्रजातंत्र शासन प्रणाली में तो रहन–सहन के स्तर का विकास असामान्य रूप से अधिक होता है। ऐसा दो कारणों से है– प्रथम, जबरन लादी गई योजना की अपेक्षा लोकतंत्र के अन्तर्गत शासकीय नियंत्रण और क्रियाकलापों सहित नवीन साहसिक व्यापार करने की स्वतंत्रता होती है। द्वितीय, यह भी सत्य है कि कुछ राजनीतिक दल, सम्भवतः सभी आवश्यक रूप से निरन्तर ही रहन–सहन के उच्च–स्तर की उपयोगिता व महत्व की सीख देते रहते है। अतः यह कहना गलत नहीं होगा कि लोकतंत्र व्यवस्था सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक सुधारों के लिए समुचित वातावरण बनाने में बहुत सफल रहती है।

लोकतंत्र शासन व्यवस्थाओं के यह गुण अधिकांशतः सैद्धान्तिक ही रह जाते हैं। व्यवहार में इनकी उपलब्धि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। केवल अवसर या वातावरण ही काफी नहीं होता है। फिर यह प्रश्न उठता है कि क्या व्यवहार में समानता, न्याय तथा जन–सहभागिता की लोकतंत्र में व्यवस्था हो पाती है? इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि इसमें लोकतंत्र व्यवस्था का कोई दोष नहीं है। अगर कोई सैद्धान्तिक व्यवस्था व्यावहारिक नहीं बन पाती है तो दोष उन व्यक्तियों का है जो उसे क्रियान्वित करते हैं न कि उस व्यवस्था का। लोकतंत्र के लाभ व्यवहार में प्राप्त हो सकें इसके लिए नागरिकों का ईमानदार, कर्त्तव्यपरायण व समझदार होना ही पर्याप्त नहीं होता है। इसके लिए आर्थिक विषमताओं का अभाव, सामाजिक समानता, राजनीतिक स्वतंत्रता तथा सहिष्णुता का होना भी अनिवार्य है।

2.2.5 प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था के दोष :

लोकतंत्र प्रणाली को कार्यरूप देने में व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण कुछ विचारक केवल इसके विपक्ष को ही सबल मानते हैं। इन व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण लोकतंत्र की कड़ी आलोचना की जाती रही है। कुछ विद्वान तो यहां तक कहने लगे हैं कि लोकतंत्र का अब कोई उपयोग नही रहा है क्योंकि अब कहीं भी सच्चे अर्थ में लोकतान्त्रिक व्यवस्था नहीं पाई जाती है। यह सही है कि सैद्धान्तिक श्रेष्ठता के बावजूद लोकतंत्र का क्रियान्वयन कई दोषों का सृजन कर देता है। लॉर्ड ब्राइस ने इसके निम्नलिखित दोष बतलाए हैं–

(1) शासन–व्यवस्था या विधान को विकृत करने में धन–बल का प्रयोग।

(2) राजनीति को कमाई का पेशा बनाने की ओर झुकाव।

(3) शासन–व्यवस्था में अनावश्यक व्यय।

(4) समानता के सिद्धान्त का अपव्यय और प्रशासकीय पटुता या योग्यता के उचित मूल्य का न आंका जाना।

(5) दलबन्दी या दल संगठन पर अत्यधिक बल।

(6) विधान सभाओं के सदस्यों तथा राजनीतिक अधिकारियों द्वारा कानून पास कराते समय वोटों को दृष्टि में रखना और समुचित व्यवस्था के भंग को सहन करना।

लोकतंत्र की सैद्धान्तिक व्यवस्था को व्यावहारिक रूप देने में आने वाली कठिनाईयों के कारण ही प्लेटो और अरस्तू ने इस प्रणाली को शासन का विकृत रूप बतलाया था। कोई भी विचार सैद्धान्तिक श्रेष्ठता के कारण ही व्यवहार में श्रेष्ठतर नहीं रह जाता है। लोकतंत्र की अव्यावहारिकता के कारण ही आलोचक यह कहते हैं कि लोकतंत्र के सिद्धान्त अत्यधिक आदर्शवादी और कल्पनावादी हैं। व्यवहार में लोकतंत्र शासन कार्य का भार सम्पूर्ण जनता पर आधारित करके 'निर्धनतम, अनभिज्ञतम तथा अयोग्यतम लोगों का शासन' हो जाता है, क्योंकि आम जनता शासन की पेचीदगियों से अनभिज्ञ ही नहीं होती है वरन शासन करने के योग्य भी नहीं होती है। लोकतंत्र व्यवस्था की यही सबसे बड़ी विडम्बना है कि इसमें योग्यतम व्यक्ति–अभिजन वर्ग, जो शासन शक्ति के क्रियान्वयन में सक्रिय होते हैं, अयोग्यतम व्यक्ति–जनसाधारण, द्वारा नियंत्रित किये जाते हैं। अगर वह नियंत्रण व्यवहार में प्रभावी हो जाता है तो लोकतंत्र सही अर्थो में भीड़तंत्र बन जाता है। अतः दोष लोकतंत्र व्यवस्था में नहीं, इस व्यवस्था को क्रियान्वित करने में सम्मिलित शासनकर्ताओं और शासितों में होते हैं। वस्तुतः व्यवहार में लोकतंत्र में यह दोष इसलिए आ जाते हैं कि उसे व्यवहार में लाने वाले लोग अपने को उस स्तर का नहीं रख पाते हैं, जिस स्तर की लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यकता होती है। परन्तु लोकतंत्र के आलोचकों को एक बात तो माननी ही होगी कि इस प्रणाली के इन दोषों के बावजूद यह प्रणाली अन्य सभी प्रणालियों से श्रेष्ठतर है। यही कारण है कि दुनिया के अनेक राज्यों में लोकतंत्र व्यवस्था को कुछ महत्त्वाकांक्षी राजनेताओं द्वारा उखाड़ फेंकने के बाद भी इसकी स्थापना के फिर प्रयत्न होते रहे हैं। अनेक समाजों में नागरिकता क्रान्ति तक का सहारा लेकर पुनः लोकतान्त्रिक शासन स्थापित करते रहे हैं। लोकतंत्र के आलोचक इस बात से भी इनकार नहीं कर सकते कि सभी दोषों के होने पर भी शायद लोकतान्त्रिक व्यवस्था ही मानव की गरिमा, उसके व्यक्तित्व के सम्मान और शासन कार्य में उसकी सहभागिता सम्भव बनाने का श्रेष्ठतम साधन है। यह केवल शासन का ही रूप नहीं, यह जीवन का ढंग है। इसमें व्यक्ति की सम्पूर्णता का आशय निहित है। यह व्यक्ति जीवन के विभिन्न पहलुओं को अलग–अलग करके नहीं, सम्मिलित रूप से विकसित होने का अवसर प्रदान करने वाली व्यवस्था है। लोकतंत्र की श्रेष्ठता का संकेत मिल के इस निष्कर्ष से मिलता है जिसमें उसने कहा है कि 'लोकतंत्र के विरोध में दी जाने वाली युक्तियों में जो कुछ सुधार प्रतीत हुआ, उसको पूरा महत्व देते हुए भी मैंने सहर्ष उसके पक्ष में ही निश्चय किया।'

2.3 समग्रवादी व्यवस्था :

समग्रवादी व्यवस्था लक्ष्यों, साधनों एवं नीतियों के दृष्टिकोण से प्रजातांत्रिक व्यवस्था के बिल्कुल विपरीत होता है। यह एक तानाशाह या शक्तिशाली समूह की इच्छाओं एवं संकल्पनाओं पर आधारित होता है। इसमें राजनैतिक शक्ति का केन्द्रीकरण होता है अर्थात् राजनैतिक शक्ति एक व्यक्ति, समूह या दल के हाथ में होती है। ये आर्थिक क्रियाओं का सम्पूर्ण नियंत्रण करता है। इसमें एक सर्वशक्तिशाली केन्द्र से सम्पूर्ण व्यवस्था को नियंत्रित किया जाता है। इसमें सांस्कृतिक विभिन्नता को समाप्त कर दिया जाता है और सम्पूर्ण समाज को सामान्य संस्कृति के अधीन करने का प्रयत्न किया जाता है ऐसा प्रयत्न वास्तव में दृष्टिकोणों की विभिन्नता की समाप्ति के लिये किया जाता है और ऐसा करके केन्द्र द्वारा दिये जाने वाले आदेशों और आज्ञाओं के पालन में पड़ने वाली रूकावटों को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। समग्रवादी व्यवस्था का सम्बन्ध एक सर्वशक्तिशाली राज्य से है। इसमें पूर्ण या समग्र को वास्तविक मानकर इसके हितों की पूर्ति के लिये आयोजन किया जाता है। किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाएगा, कब, कहाँ, कैसे और किनके द्वारा किया जायेगा और कौन लोग इसमें लाभान्वित होगें, इसका निश्चय मात्र एक राजनैतिक दल, समूह या व्यक्ति द्वारा किया जाता है। इसमें व्यक्तिगत साहस व क्रिया के लिये स्थान

नहीं होता है। सम्पूर्ण सम्पत्ति व उत्पादन के समस्त साधनों पर राज्य का अधिकार होता है। इस व्यवस्था में दबाव का तत्व विशेष स्थान रखता है। इसके दो प्रमुख रूप रहे है जो निम्नलिखि है–

(1) अधिनायकतंत्र

(2) साम्यवादी तंत्र

2.3.1. अधिनायकतंत्र : अर्थ व परिभाषा :

आधुनिक युग को 'लोकतंत्र का युग' कहा जाता है। परन्तु शायद सत्य बात है कि यह युग अधिनायकतंत्र' का युग बनता जा रहा है। यद्यपि हमने लोकतंत्र का मूल्यांकन करते समय यह निष्कर्ष निकाला है कि सुदूर भविष्य में लोकतंत्र व्यवस्थाएं ही लोकप्रिय होंगी, फिर भी आज दुनिया के अनेक राज्य लोकतंत्र शासन प्रतिमान के प्रतिकूल तानाशाही व्यवस्था में जकड़े हुए दिखाई देते हैं। लेटिन अमरीका, अफ्रीका व एशिया के अनेक राज्यों में आजकल निरंकुश व्यवस्थाओं का ही बोलबाला है। इन महाद्वीपों में जहां–जहां लोकतंत्र व्यवस्थाएं दिखाई पड़ती हैं पर उनमें भी निरंकुशता के बीज जमते जा रहे लगते हैं। लोकतंत्र व्यवस्था के समान अधिनायकतंत्र के भी कई अर्थ व रूप पाए जाते हैं। संक्षेप में इसके अर्थ, उद्देश्य व लक्षणों का विवेचना की जा रही है।

अधिनायकतंत्र किसी न किसी रूप में हमेशा बना रहा है, परन्तु प्राचीन समय में इसका अर्थ आजकल के अर्थ से पूर्णतया भिन्न था। स्पष्टता के लिए हम अधिनायकतंत्र के प्राचीन व अर्वाचीन अर्थो का पृथक–पृथक विवेचन कर रहे हैं।

(क) <u>अधिनायकतंत्र का प्राचीन अर्थ</u> : प्राचीन समय में अधिनायकतंत्र व्यवस्था को दुर्भाव की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। ऐसी व्यवस्था या तो विशेष संकटों का सफलता से मुकाबला करने के लिए या लोक कल्याण के लक्ष्यों को शीघ्रता से प्राप्त करने के लिए अपनाई जाती थी। रोमन साम्राजय में संकट के समय व कानून व्यवस्था बनाये रखने के लिए कभी–कभी विशेष अधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी। संकट का सामना करने के लिए इन अधिकारियों को विशिष्ट शक्तियां दी जाती थीं और इन्हें 'अधिनायक' कहा जाता था। इन्हें अधिनायक के नाम से इसलिए पुकारा जाता था क्योंकि उन्हें आदेश देने की असीम शक्तियां प्राप्त रहती थीं। इस प्रकार, मूल रूप में अधिनायक शब्द का अर्थ आदेश देने वाला है। रोम में अधिनायक को संकट का सामना करने के लिए ही सर्वोच्च शक्तियां सौंपी जाती थीं। संकट समाप्त होने पर अधिनायक का पद भी समाप्त हो जाता था। अतः रोमन में अधिनायकतंत्र केवल एक अस्थाई प्रयोग हुआ करता था। अधिनायक का कानूनी विधि से चुनाव होता था तथा वह अत्याचारी न बन जाये इसके लिए उस पर कानूनी रोक व्यवस्थाएं लागू रहती थीं। उसके लिए यह आवश्यक था कि वह अपनी शक्ति के प्रयोग को 'स्थायी अधिकार शक्ति' की जांच के लिए प्रस्तुत करेगा।

अधिनायकतंत्र का इस अर्थ में प्रयोग पिछली शताब्दी के मध्य तक प्रचलित माना जा सकता है। एमिलिया के शासक फेरिनि ने 1859 में एवं सिसली के शासक गेरिबाल्डी ने 1860 में अपने को इसी प्रकार का अधिनायक घोषित किया था, परन्तु उनके अधिनायक बनने का उद्देश्य अपने देश में जन–कल्याण करना था। कार्ल मार्क्स ने भी सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतंत्र का प्रतिपादन करते समय इसका यही अर्थ लिया था। इस प्रकार के अधिनायकतंत्र के कुछ लक्षणों का उल्लेख' इसे आजकल के नये अधिनायकतंत्र से भिन्न करने के लिए आवश्यक है। प्राचीन अधिनायकतंत्र में निम्नलिखित लक्षण प्रमुख माने जा सकते हैं–

(1) अधिनायक विधियों द्वारा सीमित रहता था।

(2) लोक कल्याण का लक्ष्य सर्वोपरि रहता था।

(3) अधिनायक को वैधता प्राप्त रहती थी।

(4) अधिनायक उत्तरदायी होता था।

(5) अधिनायक का पद अस्थायी भी हो सकता था।

(6) समस्त शक्तियां अधिनायक में निहित रहती थीं।

उपरोक्त लक्षणों के संबंध में यह बात ध्यान रखनी है कि अधिनायकतंत्र व्यवस्थाएं विधि द्वारा संचालित व्यवस्थाएं होती थीं तथा शासन शक्ति का प्रयोग जन–कल्याण के लिए किया जाता था। ऐसी व्यवस्थाओं में अधिनायकों का उत्तरदायित्व व वैधता इस रूप में रहती थी कि जनमत उनके अनुकूल रहता था। सामान्यतया जनता का अधिकांश भाग उनके अधिकारों के प्रयोग में सहायक व समर्थक होता था। शासन सही अर्थो में जनता के लिए ही होता था।

(ख) <u>अधिनायकतंत्र का अर्वाचीन अथ</u> : आधुनिक समय में 'अधिनायकतंत्र' का अर्थ पूरी तरह बदल गया है। आजकल इससे स्वेच्छाचारी व अत्याचारी शासन का बोध होता है। इसमें राजसत्ता एक व्यक्ति में निहित होती है और शासन सत्ताधारी व्यक्ति की इच्छानुसार ही चलता है। ऐसे अधिनायक पर किसी प्रकार का अंकुश या प्रतिबंध नहीं होता है। आधुनिक अधिनायकों को राष्ट्रीय संकट के समय नहीं चुना जाता है वरन वे तो प्रायः आकस्मिक राज्यक्रान्ति के फलस्वरूप शक्ति प्राप्त कर लेते है। उनके राजनीतिक अधिकार शक्ति का आधार, बल प्रयोग होता है। वे उसी समय तक शक्ति में बने रहते हैं, जब तक बल प्रयोग उन्हें अधिनायक बनाए रखने में सहायक रहता है। वे किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। अधिनायकतंत्र में राज्य की सम्पूर्ण शक्ति एक ही व्यक्ति में निहित होती है जो स्वयं को राज्य का मूर्त रूप समझता है।

आधुनिक अधिनायकतंत्र के दो मत माने जाते हैं। साम्यवादी शासन व्यवस्थाओं के उदय ने एकदलीय व्यवस्थाओं की स्थापना की है। इससे एक दल, जो वस्तुतः एक विचाराधारा से अनुप्राणित होता हे, सत्ता का एकाधिकार रखता है तथा दल का सर्वोच्च नेता, दल के समर्थन के द्वारा एक तरह से अधिनायक की तरह शक्ति प्रयोग करता है। इस प्रकार के अधिनायकतंत्र में शासक स्वेच्छाचारी व अत्याचारी नहीं होता है। जबकि वर्तमान में ऐसे शासक भी मिलते हैं जो सेवा के सहयोग से सत्ता में आते हैं और सत्ता में आने के बाद निरंकुश ढंग से शक्तियों का प्रयोग करते हैं। एलेन बाल ने आधुनिक अधिनायकतंत्र के दो रूप माने हैं। उसने एक को सर्वाधिकारी शासन तथा दूसरे को स्वेच्छाचारी शासन के नाम से सम्बोधित किया है। यहां इन दोनों के लक्षणों का विस्तार से विवेचन आवश्यक है–

(1) सर्वाधिकारी शासन मुख्य रूप से बीसवीं सदी में आधुनिक प्रौद्योगिकी तथा संचार में प्रगति होने के कारण अस्तित्व में आयें हैं। अधिकांश सर्वाधिकारी शासन आधुनिकीकरण तथा सुधार लाने के लिए कटिबद्ध क्रान्तिकारी शासन है। स्तालिन का रूस, हिटलर का जर्मनी व मुसोलिनी के समय में इटली इस प्रकार के शासन के उदाहरण हैं। इन तीनों उदाहरणों में एक लक्षण समान था। इस सब में एक व्यक्ति के नेतृत्व पर बल दिया गया था, पर 1945 से बाद की सर्वाधिकारी पद्धतियों में सामूहिक नेतृत्व ही पाया जाता है। यह व्यवस्था अब रूस व चीन के अलावा पूर्वी यूरोप के साम्यवादी राज्यों में पाई जाती है। सर्वाधिकारी शासन व्यवस्थाओं के लक्षणों का विवेचन एलेन बाल ने निम्न बिन्दुओं पर किया है–

(क) सिद्धान्ततः व्यक्तिगत तथा सामाजिक गतिविधि के सभी पहलुओं से सरकार राजनीतिक रूप से सम्बद्ध होती है।

(ख) एक ही दल राजनीतिक तथा कानूनी रूप से प्रभावी होता है। सारी राजनीतिक सक्रियता इसी के माध्यम से गुजरती है और प्रतियोगिता, नियुक्तियों तथा विरोध के लिए दल ही एक मात्र संस्थागत आधार प्रस्तुत करता है।

(ग) सैद्धान्तिक रूप से एक ही सुस्पष्ट विचाराधारा होती है जो उस व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पूर्ण राजनीतिक सक्रियता का विनिमय करती है। वह शासन तथा जोड़–तोड़ करने का उपकरण होती है।

(घ) न्यायपालिका और जन–सम्पर्क के माध्यमों पर सरकार का कठोर नियंत्रण होता है और उदारवादी प्रजातंत्रों में परिभाषित नागरिक स्वतंत्रताएं कठोरतापूर्वक काट–छांट दी जाती है।

(ङ) यह शासन प्रजातंत्रीय आधार उपलब्ध करने के उद्देश्य से और शासन के लिए व्यापक जन–समर्थन प्राप्त करने के लिए जन–सक्रियता पर जोर देते हैं। जनता के भाग लेने तथा जनता की स्वीकृति से शासन का वैधीकरण हो जाता है।

उपरोक्त लक्षणों से यह स्पष्ट है कि सर्वाधिकारी शासन व्यवस्थाओं में विचारधारा का सर्वाधिक महत्व होता है तथा विचारधारा के क्रियान्वयन के लिए एकाधिकार युक्त एक राजनीतिक दल होता है। समस्त गतिविधियों का नियंत्रण व निर्देशन यही दल करता है। अतः सर्वाधिकारी शासन व्यवस्थाओं में एक विचारधारा का राजनीतिक दल, प्रतियोगिता का अभाव तथा पूर्णतया नियन्त्रित जीवन इसकी मुख्य विशेषताएं होती है।

(2) स्वेच्छाचारी शासन की सुस्पष्ट परिभाषा करना बहुत कठिन है, क्योंकि सामान्यतया ऐसे शासन अस्थायी होते हैं। यहां यह ध्यान देने की बात है कि उदारवादी व सर्वाधिकारी शासन व्यवस्थाओं में वर्गीकृत न होने वाले शासन स्वतः ही स्वेच्छाचारी शासनों की श्रेणी में सम्मिलित नहीं किए जा सकते हैं। इसी तरह, स्वेच्छाचारी शासन पद्धतियों को 'तीसरी दुनिया' या 'विकासशील राज्यों' का पर्याय नहीं मान लेना चाहिए। वैसे इन शासन व्यवस्थाओं में बचे हुए अधिकांश राज्य–उदारवादी व सर्वाधिकारी राज्यों को छोड़कर, सम्मिलित किये जा सकते हैं, क्योंकि इनमें लक्षणों की भिन्नता प्रकारात्मक न होकर केवल मात्रात्मक ही होती है। स्वेच्छाचारी शासन व्यवस्थाओं के निम्नलिखित लक्षण उल्लेखनीय हैं। एलेन बाल ने इनके निम्नलिखित लक्षण गिनाए हैं–

(क) मुख्य राजनीतिक प्रतियोगिता (यानी राजनीतिक दल और चुनाव) पर महत्वपूर्ण पाबन्दियां।

(ख) साम्यवाद या फासीवाद जैसी प्रभावी राजनीतिक विचारधारा का अभाव।

(ग) 'राजनीतिक' शब्द से सम्बोधित की जाने वाली बातों का सीमित क्षेत्र होता है क्योंकि इन शासन व्यवस्थाओं में सरकार आधुनिक प्रशासकीय तथा औद्योगिक विधियों के अभाव में सभी बातों को राजनीतिक रंग नहीं दे पाती।

(घ) राजनीतिक अनुरूपता तथा आज्ञाकारिता प्राप्त करने के लिए राजनीतिक सत्ताधारी बहुधा जोर जबर्दस्ती तथा बल प्रयोग पर अधिक बल देता है।

(च) नागरिक स्वतंत्रताओं की अनुमति बहुत कम दी जाती है और जन–सम्पर्क के माध्यमों तथा न्यायपालिका पर सरकार का सीधा नियंत्रण होता है।

(छ) शासक या तो परम्परागत दृष्टि से राजनीतिक श्रेष्ठजन हों या आधुनिक दृष्टिकोण वाले नये श्रेष्ठजन होते हैं। अक्सर सेना ही आकस्मिक राज–परिवर्तन या स्वतंत्रता के औपनिवेशिक युद्ध के फलस्वरूप सत्ता हथिया लेती है।

(ज) एक गुट का राजनीति पर एकाधिकारी नियंत्रण रहता है।

लक्षणों की उपरोक्त सूची पूर्ण नहीं कही जा सकती है। इस श्रेणी में सम्मिलित शासनों में इतनी विविधतायें हैं कि सभी लक्षणों को सूचीबद्ध करना अत्यधिक कठिन है। इस श्रेणी में परम्परागत शासक वर्गो वाले राज्य, जैसे– सउदी अरब, इथोपिया और नेपाल तथा सैनिक सरकारों वाले आधुनिकीकृत राज्य जैसे नाइजीरिया और असैनिक सरकारों वाले आधुनिकीकृत राज्य जैसे अलजीयिा या मिस्त्र–शामिल कर सकते हैं।

सर्वाधिकारी व स्वेच्छाचारी शासन व्यवस्थाओं में बहुत अंतर हैं। उपरोक्त विवेचन से यह अंतर स्पष्ट हो जाते हैं। इस तरह, अधिनायकतंत्र का अर्वाचीन रूप इसके प्राचीन रूप से बहुत कुछ भिन्न हो गया है। आधुनिक अधिनायकतंत्र व्यवस्थाओं में व्यक्ति की स्वतंत्रताओं पर प्रतिबंध व मनुष्य के जीवन का हर पहलू नियन्त्रित करने के कारण, इन व्यवस्थाओं के लक्षणों का विवेचन करना सरल हो जाता है। संक्षेप में यह इस प्रकार हैं।

2.3.2 अधिनायकतंत्र के लक्षण :

अधिनायकतंत्र के सर्वाधिकारी व स्वेच्छाचारी रूपों का विवेचन पहले किया गया है। इनके लक्षणों के अध्ययन से संकेत मिलता है कि दोनों व्यवस्थाओं में अंतरों के बावजूद मोटी समानताएं हैं। कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो अधिनायकतंत्र के दोनों प्रकारों में पाई जाती है। पीटर मर्कल ने अपनी पुस्तक **पोलिटिकल कन्टीन्यूविटी चेन्ज** में अधिनायकतंत्र की निम्नलिखित विशेषताओं की ओर ध्यान दिलाया है–(1) असाधारण सत्तायुक्त, अर्द्ध–देवतुल्य एक नेता। (2) सरकारी प्रशासन व समाज के समस्त संगठनों के नियन्त्रक के रूप में विशिष्ट ढंग से संगठित व भावात्मक समर्पणता वाला एक जनपंजी दल। (3) शिक्षा व्यवस्था तथा जन–सम्पर्क के सभी साधनों पर प्रचार का एकाधिकार। (4) आतंक तथा भयभीत करने की सुपरिष्कृत व्यवस्था।

सर्वाधिकारी व स्वेच्छाचारी शासन व्यवस्थाओं में गन्तव्यों, विचारधाराओं तथा आधुनिकीकरण में उनकी भूमिकाओं को लेकर बहुत कुछ असमानताएं होते हुए भी उनमें उपरोक्त विशेषताएं समान रूप से पाई जाती हैं। इनका संक्षेप में विवेचन करने से इन दोनों व्यवस्थाओं के समान लक्षणों को अच्छी तरह समझा जा सकता है।

(1) सामान्यतया निरंकुश व्यवस्थाओं से एक ऐसे अधिनायक का अर्थ लिया जाता है जो सर्वशक्तिमान हो। परन्तु इतिहास में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता है जब किसी तानाशाह ने अकेले समस्त राज्य शक्तियों का प्रयोग किया हो। हिटलर, मुसोलिनी तथा स्तालिन के भी सलाहकार, समर्थक व सहयोगी रहे हैं। क्योंकि अधिनायकतंत्री व्यवस्था में नेता की सर्वोच्चता व असाधारण सत्ता का आधार दल का नेतृत्व होता है। इन व्यवस्थाओं में नेता या तो विचारधारा का प्रवर्तक होता है, या किसी प्रचलित विचारधारा का प्रमुख संशोधक होता है। वह विचारधारा का एक मात्र व्याख्याकार, रक्षक तथा क्रियान्वयन माना जाता है। अतः दल के सदस्यों के लिए जो दल की विचारधारा को पूर्णतया समर्पित होते हैं, वह नेता, देवतुल्य व श्रद्धा का पात्र बन जाता है तथा वही शक्ति परम व सर्वोच्च हो जाती है। यह नेता किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होता, किसी से भी आदेश प्राप्त नहीं करता तथा परिस्थितियों के बन्धनों से भी मुक्त रह सकता है। नेता की सत्ता को कोई चुनौती न दे पाए इसके लिए हर अधिनायक तीन साधनों का सहारा लेता है– (1) वह समय–समय पर दल में से सभी सम्भावित दुश्मनों व विरोधियों का बर्बरतम तरीकों का उपयोग करके सफाया करता रहता है। (2) अपने सभी सहयोगियों व अनुयायियों के दिलों में भय और आतंक फैलाये रखता है। (3) सत्ता संरचना को स्थिर नहीं होने देता है।

इस तरह, अधिनायकतंत्र में नेता की सर्वोच्चता तथा सत्ता बनाई रखी जा सके इसके लिए नेता उपरोक्त तीन विधियों में से दो विधियों का तो प्रयोग करते ही हैं परन्तु तीसरी विधि के माध्यम से वह उनको चुनौती देने की संस्थागत व्यवस्था को भी नहीं पनपने देते हैं। अधिनायकतंत्र में नेता को सबसे बड़ा खतरा ऐसी संस्थाओं की स्थापना या विकास है जो स्वयं निर्णय लेने लगें। ऐसी अवस्था नेता की सत्ता की क्षीणता का संकेत होती है जो अनिवार्यतः नेतृत्व में परिवर्तन करके रहती है। रूस में खुश्चेव तथा पाकिस्तान में अय्यूबखां के बाद क्रमशः ब्रेजनेव तथा याह्याखान का सत्ता में आना इसी आधार पर समझा जा सकता है।

(2) तानाशाही व्यवस्थाओं में चाहे उसका कोई रूप हो, एक एकाधिकारी राजनीतिक दल का दिखावा अवश्य पाया जाता है। यह राजनीतिक दल सम्पूर्ण जीवन का नियंत्रक होता है। सरकारी, सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन ऐसे दल के नियंत्रण में रहता है। साम्यवादी व्यवस्थाओं में दल सही अर्थो में जनपुंजी होते हैं, पर स्वेच्छाचारी सैनिक या असैनिक तथा परम्परागत शासक वर्गो वाले राज्यों में भी सत्ता की वैधता के लिए दल का गठन किया जाता है। पाकिस्तान में राष्ट्रपति अय्यूबखां ने, बर्मा में जनरल नेविन (आजकल बर्मा के राष्ट्रपति) व नेपाल में सम्राट महेन्द्र ने इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दल का सहारा लिया था। ऐसे शासनों में अधिनायक, दल के नेता के रूप में पूजनीय बन जाता है।

(3) निरंकुश शासक अपनी सत्ता को स्थायी आधार उपलब्ध कराने के लिए शिक्षण व्यवस्थाओं के माध्यम से नेता के प्रति अगाध आस्था उत्पन्न कराने का प्रयास करता है। सम्पर्क के सभी साधनों का प्रयोग नेता की श्रेष्ठता के गुणगान करने में किया जाता है। जन–सम्पर्क के सभी साधनों पर कड़ी निगरानी रहती है तथा जनता को बार–बार आंतरिक एवं बाहरी दुश्मनों में संघर्ष करने के लिए सचेत रखा जाता है। सारा प्रचार केवल नेता के द्वारा बताये गये तथ्य को ही सही मानने के लिए होता है। अन्य किसी भी प्रकार का प्रचार यहां तक कि बाहर का रेडियो प्रसारण सुनना तक अपराध माना जाता है। दूसरे विश्वयुद्ध के समय तो जर्मनी में विदेशी रेडियो प्रसारण सुनने वालों को मौत की सजा देने का कानून तक लागू था। प्रसारणों के माध्यम से बार–बार विचारधाराओं से संबन्धित सिद्धान्तों को दोहराया जाता है जिससे लोगों के मस्तिष्कों पर इसकी अमिट छाप अंकित हो जाए तथा इससे आगे सोचने के लिए जनता के मस्तिष्कों पर ताले पड़ जाएं। इस तरह जन–सम्पर्क साधनों का एकाधिकार नेता की सत्ता को स्थायित्व प्रदान करने में प्रयुक्त किया जाता है।

(4) अधिनायकतंत्री व्यवस्थाओं को बनाए रखने के लिए नेताओं द्वारा आतंक तथा डर का साम्राज्य फैला दिया जाता है। इससे व्यक्ति इतना भयभीत बना दिया जाता है कि उसको हर वक्त अपना अस्तित्व खतरे में लगता है। इसके लिए बेबुनियादी प्रचार तक का सहारा लिया जाता है। निरंकुश व्यवस्थाओं में सरकार एक निरंतर चलने वाली क्रान्ति का प्रतीक होती है। इन व्यवस्थाओं में एक अत्यधिक महत्वाकांक्षी व सुनहरे भविष्य की प्राप्ति के लिए संघर्ष में कोई रूकावट नहीं आये इसके लिए सारा शासनतंत्र एक सूत्र में बांधकर रखा जाता है। इस प्रयत्न के विरोध में किसी भी प्रकार का प्रयत्न नहीं हो इसके लिए पहले ही आतंक फैलाये रखा जाता है। इसके लिए गुप्तचर विभागों को पूर्ण अधिकार तथा अप्रत्याशित शक्तियों से युक्त किया जाता है। ऐसी व्यवस्थाओं में **"रास्ते से हटने वालो"** को अनुनयन से समझाने के बजाय समाप्त किया जाता है।

अन्त मेंयह कहा जा सकता है कि आधुनिक अधिनायकतंत्र प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सैनिकवाद की उपज है। इसमें एक दल या नेता या सेना के झंडे के चारों ओर राष्ट्रीय आत्म–सम्मान, आशाओं और आकांक्षाओं की शक्ति इकट्ठी होती है। अधिनायकतंत्र आन्तरिक विरोध व संघर्ष को कठोरता से दबा देता है। वह इस तरह कार्य करता है जैसे कि वह राष्ट्रीय एकता की मूर्ति हो। अधिनायकतंत्र लोगों को एक

स्वर में गूंथने का प्रयत्न करता है। इसमें जनता के किसी विरोध का सहन नहीं किया जाता है। यह इसी बात में विश्वास करता है कि सम्पूर्ण राष्ट्र एक ही ढंग से सोचे, बोले व कार्य करें। अधिनायकतंत्र के अर्थ व विशेषताओं के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि इस शासन व्यवस्था में कुछ गुण हैं तो कुछ दोष भी है। इनका संक्षेप में विवेचन देना मूल्यांकन के लिए आवश्यक है। अतः इनका संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है।

2.3.3 अधिनायकतंत्र के गुण :

अधिनायकतंत्र व्यवस्था के व्यवहार में इतने लाभ हैं कि अनेक लोकतांत्रिक राज्यों में जनता लोकतंत्र में कुछ लोगों की मनमानी करने की स्वतंत्रता से ऊबकर अधिनायकतंत्र व्यवस्था की कामना करने लगती है। अगर अधिनायकतंत्र के उत्कर्ष के कारणों की खोज की जाए तो विदित होगा कि जिस–जिस देश में निराशा, अव्यवस्था, असंतोष तथा अभाव था वहीं अधिनायकतंत्र का उदय हुआ है। जिन देशों में लोकतंत्र व्यवस्था लोगों में निराशा तथा अभाव उत्पन्न करने वाली बनी, वहीं इस व्यवस्था की स्थापना हो गई। आज भी अनेक राज्यों में जनता अधिनायकतंत्र को अच्छा मानकर निरंकुश शासकों का पूर्ण समर्थन करती हुई दिखाई देती है। इससे यह स्पष्ट है कि अधिनायकतंत्र में कुछ ऐसे गुण हैं जो अन्य व्यवस्थाओं की सैद्धान्तिक श्रेष्ठता के बावजूद इस व्यवस्था को अपनाने के लिए प्रेरणा के जिम्मेदार हैं। संक्षेप में ऐसे शासन के निम्नलिखित लाभ हैं–

(1) अधिनायकतंत्र में शासन कुशलता होती है। सारी शासन शक्ति एक व्यक्ति में निहित होने के कारण, न केवल निर्णय शीघ्रता से लिए जा सकते है, वरन निर्णयों के क्रियान्वयन की भी सुव्यवस्था हो जाती है। अधिनायकतंत्री व्यवस्था में शासक से सभी भयभीत रहते हैं इस कारण वे कार्य में देरी या शिथिलता नहीं कर सकते हैं। निरंकुश शासक के प्रति सम्पूर्ण प्रशासन न केवल उत्तरदायी रहता है अपितु हर समय सतर्क, सचेत व सक्रिय भी रहता है। इससे शासन में कार्य–दक्षता आ जाती हैं।

(2) इस व्यवस्था का दूसरा गुण देश का तेजी से विकास है। देश में एक ही नेता, एक ही योजना तथा एक ही विकास लक्ष्य रहने से देश की सम्पूर्ण शक्ति इसी लक्ष्य के मार्ग को प्रशस्त करने में प्रयुक्त होती है। आर्थिक साधनों का समुचित विकास व उपयोग सम्भव होता है। देश के विकास के लिए एकता, शान्ति व व्यवस्था की आवश्यकता होती है। अधिनायकतंत्र में इनकी ठोस व्यवस्था रहने के कारण देश के सारे साधन विकास में लगाए जा सकते हैं।

(3) देश में एकता की स्थापना में अधिनायकतंत्र बहुत सहायक रहता है। विभिन्न दलों तथा विरोधियों का दमन करके देश में एक दल व एक नेता का शासन स्थापित होने के कारण सारी जनता इसके प्रति वफादार हो जाती है। नेता के चारों तरफ, सारी व्यवस्थाएं गुंथ जाती हैं तथा देश एक ठोस एकता के सूत्र में बंध जाता है। दल या नेता एकता में बांधने का साधन हो जाता है और उसी में सबको अपनत्व का आभास होने लगता है। हिटलर व मुसोलिनी इसी तरह जर्मनी व इटली को एक करने में सफल रहे थे।

(4) राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत करने में सहायक है। देश के नागरिकों को पारस्परिकता में बांधने के लिए एक विचारधारा, एक दल व एक नेता का होना पर्याप्त होता हैं। सभी नागरिक बन्धुत्व की भावना से अनुप्राणित रहते हैं। एक राष्ट्र का नारा, एक ही झंडे के नीचे सबको खड़ा कर देता है। देश भक्ति का इतना प्राबल्य होता है कि नागरिक अपने देश तथा नेता के लिए बलिदान तक करने के लिए तैयार हो जाते हैं।

(5) संकट काल में तानाशाही व्यवस्था सर्वोत्तम रहती है। इसमें संकट का सामना करने के लिए सभी निर्णय व आदर्श एक व्यक्ति द्वारा दिये जाने के कारण, आदेशों की एकता रहती है। इससे समय पर उचित कार्यवाही करना सरल हो जाता है। युद्धकालीन संकट में तो यही व्यवस्था विजय दिलाती है।

(6) अधिनायकतंत्र व्यवस्था में देश का बहुमुखी विकास होता है। आर्थिक क्षेत्र में भी तेजी से विकास की व्यवस्था होती है। एकता, अनुशासन व कर्तव्य–परायणता के कारण विकास की श्रेष्ठ व्यवस्था हो जाती है। रूस, जर्मनी, चीन, इटली, टर्की और स्पेन का अभी तक इतिहास इस बात का साक्षी है। जेक्सन ने अपनी पुस्तक 'यूरोप सिन्स दी वॉर' में ठीक ही लिखा है– "स्पेनवासियों के इतिहास में यह पहला अवसर है जबकि रेलें समय पर चली हैं। अधिनायक के अधीन व्यापार और उद्योग समृद्ध हुए हैं। कृषि फलीफूली है। श्रम संकट दूर हो गए हैं।" भारत में कुछ अंशों में अधिनायकवादी कदमों ने देश का हाल ही में काया–पलट कर दिया है।

(7) कुछ विद्वान अधिनायकतंत्र को मानव–स्वभाव के अनुकूल भी मानते हैं। इसके पक्ष में उनका कहना है कि मनुष्य में स्वभावतः अपने हितों की रक्षा की इच्छा अवश्य होती है। वह अपनी रक्षा चाहता है चाहे यह किसी के द्वारा की जाय। अपनी समस्याओं का समाधान चाहता है। आम जनता को इससे कोई मतलब नहीं होता है कि उसकी रक्षा व्यवस्था कौर करता है? वह तो सुरक्षा चाहती है, अपने हितों की पूर्ति चाहती है। अधिनायकतंत्र में ऐसा सम्भव होने के कारण यह मानव स्वभाव के अनुकूल व्यवस्था भी मानी जाती है।

(8) विकासशील राज्यों के लिए राजनीतिक और आर्थिक विकास की संक्रमणकालीन परिस्थितियों में भी अधिनायकतंत्र उपयोगी माना गया है। विकासशील राज्यों में जनइच्छा की अनुशासित अभिव्यक्ति की समस्या अत्यन्त प्रबल रही है। विकास के विभिन्न चरणों को पार करने के प्रयास में नवोदित राष्ट्र जन आकांक्षाओं को जागृत तो कर देते हैं, परन्तु जन आकांक्षाएं जितनी तेजी से जागृत होती हैं, उतनी तेजी से वे उनकी पूर्ति नहीं कर पाते हैं। इसके कारण राज्य व्यवस्था पर तनाव बढ़ते हैं एवं उसके टूटने का डर रहता है। ऐसी स्थिति में राजनीतिक अनुशासन बनाए रखने के लिए अधिनायकतंत्र अधिक उपयोगी हो सकता है। हण्टिंगटन ने ठीक ही कहा है कि 'नवोदित राष्ट्रों में प्रथम कार्य राजनीतिक सहभाग, शिक्षा आदि की वृद्धि के स्थान पर मूलभूत, संस्थात्मक ढांचे का निर्माण होना चाहिए तथा इसके लिए एकदलीय शासन या सैनिक अधिनायकतंत्र भी उपयुक्त हो सकता है।'

2.3.4. अधिनायकतंत्र के दोष :

अधिनायकतंत्र में गुणों के होते हुए भी इस प्रणाली का किसी भी देश में लम्बी अवधि तक प्रचलन नहीं रह पाता है। इतिहास ऐसे प्रमाणों से भरा पड़ा हैं। जहां कहीं भी अधिनायकतंत्र स्थापित होता है वहीं पर एक स्थिति ऐसी आती है जब जनता सत्ता सम्पन्न सर्वोच्च शासक को उखाड़ फेंकने के लिए हिंसात्मक क्रान्ति तक का सहारा लेने में नहीं हिचकिचाती है। इससे स्पष्ट है कि इस व्यवस्था में कुछ कमियां अवश्य पाई जाती हैं। संक्षेप में इस प्रणाली के दोष इस प्रकार हैं–

(1) इस व्यवस्था में व्यक्ति के व्यक्तित्व का सम्मान नहीं होने के कारण व्यक्ति को सब कुछ सुविधाएं होते हुए भी उसे अपने व्यक्तित्व को अपनी इच्छानुसार विकसित करने का वातावरण नहीं मिल पाता है तथा वह अपने जीवन को अपूर्ण ही रखने पर मजबूर हो जाता है। व्यक्ति को किसी भी प्रकार स्वतंत्रता नहीं रहती है। इससे उसका व्यक्तित्व दबकर रह जाता है। तानाशाही व्यवस्था में मौलिक अधिकारों एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता को कोई महत्व नहीं दिया जाता है। अतः तानाशाही व्यवस्था का सबसे बड़ा दुर्गुण व्यक्ति के व्यक्तित्व के दमन का वातावरण बनाना है।

(2) अधिनायकतंत्र शासन व्यवस्था में अत्याचार और अनाचार का बोलबाला रहता है। अधिनायक अपनी सत्ता को बना रखने के लि आतंक फैला रखता है। विरोधियों का बर्बर तरीकों से सफाया कर दिया जाता है। इससे मानव भयग्रस्त होकर जेल के सीखचों में बन्द सा हो जाता है। देश हित में कही गई बात भी अगर तानाशाह की इच्छा के प्रतिकूल है तो उसको ठुकरा दिया जाता है तथा उसके विरूद्ध बात कहने वाले को देशविद्रोही कहकर मौत के घाट उतार दिया जाता है।

(3) तानाशाही व्यवस्था देश के लि अहितकर होती है। इस व्यवस्था में निर्णय एक व्यक्ति लेता है जो किसी भी प्रकार का विरोध या सुझाव स्वीकार नहीं करता है। इससे तानाशाह द्वारा लिये गये गलत निर्णयों का अहितकर प्रभाव सारी प्रजा को भुगतना पड़ता है। अधिनायक का हर निर्देश लोगों को मानना पड़ता है, चाहे वह निर्देश राष्ट्रीय हित में हो अथवा नहीं हो। इस प्रकार तानाशाही व्यवस्था में राष्ट्रीय हितों का समुचित संरक्षण नहीं रहता है।

(4) अधिनायकतंत्र में साधारण व्यक्तियों में आत्म–निर्भरता, क्रियाशीलता तथा स्वतंत्रता की भावना का पूर्णतः लोप हो जाता है, क्योंकि उन्हें बोलने अथवा विचारने आदि की किसी प्रकार की स्वतंत्रता नहीं रहती है। इस व्यवस्था में व्यक्ति का तन, धन और यहां तक कि मन भी अधिनायक के लिए हो जाता है और उसे अधिनायक जिधर हांके उधर ही चलने के लिए मजबूर होना पड़ता है।

अधिनायकतंत्र के गुण और दोष के विवेचन से स्पष्ट है कि यह व्यवस्था मनुष्य को मनुष्य नहीं बनाती तथा उसे मनुष्य के रूप में रहने भी नहीं देती है। इसमें मानव का व्यक्तित्व दबकर रह जाता है। उसकी सारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के उपरान्त भी उसको कुछ कमी सी महसूस होती है। उसका जीवन कैदी का सा हो जाता है। इसलिए ही अधिनायकतंत्र के अनेक लाभों के होते हुए भी कोई व्यक्ति इस व्यवस्था के अन्तर्गत रहना पसंद नहीं करता है। इस शासन में व्यक्ति के लिए सब कुछ रहता है परन्तु फिर भी उसको ऐसी व्यवस्था में घुटन होने लगती है, क्योंकि व्यक्ति केवल रोटी के लिये ही जीवित नही रहता है। वह इसके अलावा भी बहुत कुछ पाना व करना चाहता है जो केवल सोचने–विचारने तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के वातावरण में ही सम्भव होता है। अतः अधिनायकतंत्र सभी आकर्षणों के बावजूद भी तनाव मस्तिष्क की भूख मिटाने के साधनों पर रोक लगाने वाला होने के कारण जन साधारण द्वारा अमान्य ही रहता है। इस शासन के गुण–दोषों के विवेचन के बाद इसके भविष्य के बारे में संकेत देना सरल हो जाता है। अतः हम इसके भविष्य की संक्षिप्त चर्चा करना प्रासंगिक मान सकते हैं।

2.3.5. साम्यवादी दृष्टिकोण का अर्थ :

लोकतंत्र का साम्यवादी दृष्टिकोण वर्तमान शताब्दी में ही महत्वपूर्ण बना है। साम्यवादियों ने लोकतंत्र को नये अर्थो में ग्रहण किया है। सोवियत रूस तथा चीन के शासनों को जनवादी लोकतंत्र कहा जाता है। इन शासनों का मुख्य आधार मार्क्स के विचारों पर आधारित साम्यवाद है, जिसके अनुसार उदार लोकतंत्रों की शासन व्यवस्था लोकतंत्र का केवल दिखावा है। साम्यवादी दृष्टिकोण के समर्थकों का कहना है कि पश्चिमी लोकतंत्रों में शासन पर केवल साधन सम्पन्न वर्ग का नियंत्रण होने के कारण शासनतंत्र का प्रयोग इसी वर्ग के हितों के पोषण के लिए किया जाता है। अतः उनकी मान्यता है कि साधन सम्पन्न वर्ग के साधन के रूप में शासन व्यवस्था का प्रयोग जिस राज्य में होता है उसको लोकतान्त्रिक नहीं कहा जा सकता। साम्यवादी मानते हैं कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था तो केवल उस शासनतंत्र को कहा जाना चाहिए जहां इसका प्रयोग एक ऐसे समाज के हित साधन के लिए हो वर्ग रहित हो। इसके लिए, उनके द्वारा प्रतिपादित लोकतंत्रीय शासन की स्थापना आवश्यक है तथा वही उनके मतानुसार सच्चा लोकतंत्र है,

क्योंकि ऐसी दशा में सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में जब यह शासक वर्ग समाप्त कर दिया जाता है, तो शोषण के साधन के रूप में राज्य का अन्त हो जाता है और सच्चे जनतंत्र का उदय होता है।

साम्यवादी 'सरकार व शक्ति' का भिन्न अर्थ करते हैं। यहां शक्ति से तात्पर्य राजनीतिक शक्ति से है। उनके अनुसार सरकार पूंजीपतियों के हाथ की कठपुतली है, जो 'धनिक वर्ग' की 'गरीब वर्गो' से रक्षा का ही कार्य करती है। उनके अनुसार राजनीतिक शक्ति का आधार आर्थिक शक्ति है। जिनके हाथ में आर्थिक शक्ति होती है उसी के हाथ में राजनीतिक शक्ति भी आ जाती है। इसलिए उदार लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में पूंजीपति ही राजनीतिक शक्ति के धारक व संचालक होते हैं। उत्पादन के प्रमुख साधन व आर्थिक शक्ति, पूंजीवादी व्यवस्था में केवल कुछ लोगों के हाथ में रहती है, जो इसका प्रयोग अपने ही हितों की रक्षा और धन की वृद्धि में करते हैं। अतः साम्यवादी यह मानते हैं कि पश्चिमी लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में राजनीतिक शक्तियों का प्रयोग तथा मौलिक अधिकारों के रूप में उपलब्ध सुविधाओं का उपयोग, जनसाधारण नहीं, केवल धनिक वर्ग ही करता है। यह लोकतंत्र की मात्र औपचारिकता है, क्योंकि आर्थिक शक्ति युक्त वर्ग, सम्पूर्ण राजनीतिक तंत्र का संचालक व नियंत्रक होता है। अतः उदारवादी लोकतंत्र कुछ के लिए ही अर्थ रखता है। जनसाधारण राजनीतिक प्रक्रिया में सहभागी होने के सैद्धान्तिक अवसरों से बढ़कर व्यवहार में कुछ नहीं रखते हैं। साम्यवादियों के अनुसार सच्चा लोकतंत्र तभी स्थापित हो सकता है जब आर्थिक शक्ति भी सम्पूर्ण समाज में निहित हो जिससे राजनीतिक शक्ति भी सम्पूर्ण समाज में निहित हो जाय तथा शासनतंत्र सबका, सबके लिए तथा सबके द्वारा संचालित हो सके। इसके लिए साम्यवादी इन संस्थागत व्यवस्थाओं को लोकतंत्र की पूर्व शर्तो के रूप में स्थापित करने को महत्वपूर्ण मानते हैं– (1) उत्पादन तथा वितरण के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व; (2) सम्पत्ति का समान वितरण; (3) साम्यवादी दल का एकाधिकार।

(1) साम्यवादी विचारधारा की आधारभूत मान्यता है कि उत्पादन व वितरण के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व, आर्थिक शक्तियों को अन्ततः कुछ व्यक्तियों में केन्द्रित कर देता है। आर्थिक शक्ति के इस प्रकार के केन्द्रण से वर्ग–संघर्ष उत्पन्न होता है। इससे आर्थिक शक्ति युक्त वर्ग, इस शक्ति से रहित वर्ग का दमन व शोषण करने लगता है। राजनीतिक शक्ति भी इन्हीं के हाथों में केन्द्रित होने के कारण, समाज के बहुसंख्यक नागरिक अपनी राजनीतिक मान्यताओं, आदर्शो व मूल्यों के स्थान पर पूंजीपतियों द्वारा आरोपित आदर्शो व मूल्यों को मानने व अपनाने के लि मजबूर हो जाते हैं। ऐसी व्यवस्था को साम्यवादी लोकतान्त्रिक नहीं मानते हैं। इसलिये उनका कहना है कि लोकतंत्र को वास्तव में व्यावहारिक बनाने के लिए, लोकतंत्र की मान्यताओं के प्रकाशन के रास्ते में आने वाली रूकावटें दूर की जानी चाहिये। उनकी धारणा है कि यह रूकावटें उत्पादन व वितरण के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व की व्यवस्था करने पर ही दूर हो सकती हैं। अतः साम्यवाद की मान्यता में लोकतंत्र तब तक व्यावहारिक नहीं बन सकता है जब तक उत्पादन व वितरण के साधनों का स्वामित्व सम्पूर्ण समाज में निहित नहीं होता है।

(2) उत्पादन व वितरण के साधनों का सामाजिक स्वामित्व सम्पत्ति के समान वितरण की व्यवस्था अनिवार्य बना देता है। सम्पत्ति का बराबर वितरण होने से, सम्पत्ति संघर्ष का कारण नहीं बनता है, और समाज में असमानता को जन्म नहीं दे पाती है। आर्थिक साधनों का सम्पूर्ण समाज में निहित होना, समाज को उन बन्धनों से मुक्त करता है, जो लोकतंत्र की मान्यताओं की उपलब्धि में रूकावटें डालते हैं। आर्थिक दृष्टि से ऐसे समानता वाले समाज में ही लोकतंत्र व्यावहारिक बनता है।

(3) साम्यवादी यह मानते हैं कि आर्थिक समानता वाले समाज में कोई वर्ग या अलग–अलग हित नहीं होते हैं। इसलिए वर्गो के विशिष्ट हितों का प्रतिनिधित्व व सुरक्षा करने के लिए अनेक राजनीतिक दल बनने की परिस्थितियां नहीं होती हैं। उनका कहना है कि वर्ग–विहीन समाज में राजनीतिक दलों की

आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। यही कारण है कि साम्यवाद, राजनीतिक दलों की अनेकता स्वीकार नहीं करता। परन्तु जन लोकतान्त्रिक व्यवस्था के मूल्यों की प्राप्ति के लिए समाज का नेतृत्व व निर्देशन होना आवश्यक है। जिससे समाज के सम्पूर्ण साधनों व शक्तियों में समन्वय रखा जा सके और साध्यों की पूर्ति की सुव्यवस्था की जा सके। इसके लिए सम्पूर्ण जनता के दल (साम्यवादी) की आवश्यकता होती है जिसे समाज के लिए राजनीतिक शक्तियों के प्रयोग, निर्देशन व नियंत्रण का एकाधिकार प्राप्त हो। यह साम्यवादी दल सबका सच्चा प्रतिनिधित्व करता है और सबके हित में राजनीतिक शक्तियों का प्रयोग सम्भव बनाता है। ऐसा दल शोषण व दमन का प्रतीक नहीं होता है, वरन सार्वजनिक हित की साधना का साधन रहता है। ऐसी व्यवस्था वाला समाज ही लोकतान्त्रिक कहा जा सकता है।

साम्यवादी जगत में उन सभी 'औपचारिक संस्थाओं' को, जो उदार लोकतान्त्रिक व्यवस्था वाले राज्यों में पाई जाती हैं, संविधान में अपनाया जाता है। जैसे संविधान को लिखित, अचल व 'सर्वोच्च' बनाया जाता है। राजनीतिक शक्तियों का विभाजन व पृथक्करण पाया जाता है। नागरिकों को मौलिक अधिकार संविधान द्वारा प्रदान किये जाते हैं और सरकार का निरंतर उत्तरदायित्व रहे इसके लिए संस्थागत व्यवस्था की जाती है। इतना ही नहीं, 'विधि के शासन' का दिखावा भी कानूनी दृष्टि से सुस्थापित किया जाता है। यह संवैधानिक व्यवस्थाएं, राजनीतिक शक्ति पर प्रभावशाली नियंत्रण लगाकर उसके दुरूपयोग पर अंकुश का काम करने वाली हैं। इसलिए यह कहा जाता है कि साम्यवादी राज्यों में ही वास्तविक लोकतंत्र है। विलियम जी0 ऐन्ड्रज ने ठीक ही लिखा है कि, "प्रक्रियात्मक लोकतंत्र की दृष्टि से रूस का संविधान उन सभी संसदीय संस्थाओं की, जो पश्चिमी देशों में प्रचलित हैं, स्थापना करता है और उनके आपसी सम्बंध्नों को भी ठीक उसी तरह मर्यादित करता है। रूस के संविधान में कई ऐसी व्यवस्थाएं हैं जो पश्चिमी परम्परा के अनुरूप ही शक्ति नियंत्रण के मानक व प्रक्रियात्मक नियमिताएं स्थापित करती हैं। रूस के संविधान में नागरिकों के मौलिक अधिकारों और स्वतंत्रताओं की सुव्यस्थित रक्षा व्यवस्था है, विभिन्न शासन सत्ताओं के पारस्परिक सम्बंधों की स्पष्ट व्याख्या है तथा सार्वजनिक नीति के निर्धारण व क्रियान्वयन का प्रक्रियात्मक अनुबन्ध है। इन सब बातों में यह पाश्चात्य लोकतान्त्रिक संविधानों से बिलकुल भी भिन्न नहीं है।"

रूस तथा अन्य साम्यवादी संविधानों में पाई जाने वाली सभी संस्थागत व्यवस्थाएं लोकतंत्र की स्थापना करती हुई दिखाई देंती हैं, परन्तु वास्तव में साम्यवादी समाजों में लोकतंत्र का अनुसरण नहीं होता है। साम्यवादी राज्यों में राजनीतिक शक्ति के धारकों पर संवैधानिक नियंत्रणों की सभी संस्थागत व्यवस्थाएं केवल 'औपचारिकता' मात्र हैं। निष्कर्ष रूप में ऐलफ्रेड मेयर के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि "रूस का सम्पूर्ण संविधान एक धोखा है, यह क्रियान्वित नहीं होता है, और इससे राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति का सही चित्रण भी नहीं होता है।" साम्यवादी राज्यों में न व्यक्ति को स्वतंत्रता होती है और न अपने व्यक्तित्व के विकास का मार्ग चुनने का उसे विकल्प प्राप्त रहता है। अतः साम्यवादी लोकतंत्र का विचार बहुत नया तथा अनोखा ही कहा जा सकता है।

एलेन बाल ने साम्यवादी व्यवस्थाओं के लक्षण बताते हुए, इनके आधार पर इनको उदार लोकतंत्रों से अलग पाया है। यह लक्षण हैं–

(1) व्यक्तिगत तथा सामाजिक गतिविधि के सभी पहलुओं से सरकार राजनीतिक रूप से सम्बद्ध होती है।

(2) एक ही दल राजनीतिक तथा विधिक रूप से प्रभावी होता है। सारी राजनीतिक सक्रियता इसी के माध्यम से गुजरती है और प्रतियोगिता, नियुक्तियों तथा विरोध के लिए दल ही एक मात्र संस्थागत आधार प्रस्तुत करता है।

(3) सैद्धान्तिक रूप से एक ही सुस्पष्ट विचारधारा होती है जो उस व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पूर्ण राजनीतिक सक्रियता का विनियमन करती है। यह विचारधारा सिद्धान्त के अतिरिक्त भी बहुत कुछ होती है। वह शासन तथा जोड़–तोड़ करने का उपकरण होती है।

(4) न्यायपालिका और जन–सम्पर्क के माध्यमों पर सरकार का कठोर नियंत्रण होता है और उदारवादी लोकतंत्रों में परिभाषित नागरिक स्वतंत्रताएं कठोरतापूर्वक काट–छांट दी जाती हैं।

(5) सर्वाधिकारी शासन प्रजातंत्रीय आधार उपलब्ध करने के उद्देश्य से और शासन के लिए व्यापक जन–समर्थन प्राप्त करने के लिए जन–सक्रियता पर जोर देते हैं। जनता के भाग लेने तथा जनता की स्वीकृति से शासन का वैधीकरण हो जाता है।"

इन लक्षणों से एक बात स्पष्ट होती है कि लोकतंत्र के उदारवादी दृष्टिकोण व साम्यवादी दृष्टिकोण में मूल्यों, सिद्धान्तों तथा प्रक्रियाओं में मौलिक अंतर हैं। इस कारण अगर प्रजातंत्र की सैद्धान्तिक व्याख्या, जो बहुत कुछ उदारवादी धारणा से प्रेरित है, का आधार लेकर देखें तो साम्यवादी व्यवस्था को लोकतांत्रिक नहीं कहा जा सकता, पर इस निष्कर्ष पर यह दोषारोपण किया जा सकता है कि हम उदारवादी लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं को मापदंड के रू॰ में इस्तेमाल कर रहे हैं और उससे थोड़ा बहुत भी इधर–उधर हटने को अलोकतान्त्रिक मान लेते हैं। यहां तर्कसम्मत आधार का अभाव लगता है।

2.3.6. समाजवादी दृष्टिकोण : अर्थ :

लोकतंत्र के उदारवादी व साम्यवादी प्रकारों की चर्चा ऊपर की गई है। इन दोनों प्रकारों के बीच की स्थिति के भी लोकतंत्र के अनेक नाम व रूप बन गये हैं। लोकतंत्र के ऐसे रूपों में ही वे नाम व रूप आते हैं जिन्हें बुनियादी लोकतंत्र, निर्देशित लोकतंत्र या नियंत्रित लोकतंत्र की संज्ञाएं दी जातीं है। इन प्रकारों के लोकतंत्रों के रूप में हम उन नवोदित राष्ट्रों की शासन व्यवस्थाओं को ले सकते हैं जिनकी सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक स्थिति तथा जिनकी जनता के बौद्धिक स्तर के कारण इन देशों में पश्चिमी व साम्यवादी दोनों ही प्रकार के लोकतंत्र उपयुक्त सिद्ध नहीं होते हैं तथा जिनमें लोकतंत्र का क्रियान्वयन, जनमत की सीमित, निर्देशित अथवा नियंत्रित अभिव्यक्ति के आधार पर होता है। वैसे सच तो यह है कि विकासशील देशों में लोकतंत्र अभी तक अस्थायित्व के दौर से गुजर रहा है। इन देशों में राजनीतिक प्रक्रियायें संक्रमण की अवस्था में होने के कारण, संविधानों में लोकतंत्र के आधार सुनिश्चित नहीं हो पाए हैं। संविधानों में बार–बार मौलिक संशोधन किये जाते हैं तथा एक मूल्य के स्थान पर दूसरा मूल्य अपनाया जाता रहा है। इन राज्यों की परिस्थितियां ही ऐसी हैं कि इनमें कभी–कभी विरोधी लक्ष्यों को सामंजस्य की परिस्थिति में लाना आवश्यक हो जाता है। इन देशों में आर्थिक विकास की गति को तेज करने की आवश्यकता के साथ ही साथ राजनीतिक स्थायित्व व राजनीतिक शक्ति की वैधता के साधन भी अपनाने आवश्यक हैं। एक तरफ, राजनीतिक सत्ता की वैधता, प्रतियोगी राजनीतिक दलों के संदर्भ में स्वतंत्र, निष्पक्ष व नियतकालिक चुनावों द्वारा होती है तो दूसरी तरफ, आर्थिक विकास की द्रुत गति के लिए सभी साधनों में समन्वय स्थापित तभी किया जा सकता है जब प्रतियोगी राजनीति पर कुछ अंकुश लगाये जाएं। इन्हीं कारणों से अनेक नवोदित राज्यों में लोकतंत्र का एक नया रूप विकसित होता हुआ दिखाई देता है।

परन्तु सभी विकासशील राज्यों में लोकतंत्र का यह नया रूप एक समान नहीं दिखाई पड़ता है। अनेक राज्यों में लोकतंत्र की संस्थागत व्यवस्थायें व राजनीतिक समाज के आदर्श एक ही दिशा में जाने वाले होते जा रहे हैं। इन्हीं राज्यों का लोकतंत्र समाजवादी लोकतंत्र के नाम से पुकारा जाने लगा है। इन लोकतंत्रों में राजनीतिक समाजों के मूल्य तो उदारवादी लोकतंत्रों की अवधारणा के समान, स्वतंत्रता,

राजनीतिक समानता, सामाजिक व आर्थिक न्याय तथा लोक कल्याण की साधना के ही हैं, परन्तु साधनों की दृष्टि से समाजवादी लोकतंत्र साम्यवादी विचारधारा के समीप लगते हैं। क्योंकि इन राज्यों में साम्यवादी संरचनाओं व संस्थागत व्यवस्थाओं के प्रति आस्था बलवती बनती जा रही है। इन राज्यों में समानता के राजनीतिक पहलू के साथ ही साथ समानता का आर्थिक पहलू भी महत्वपूर्ण माना जाता है। प्रतियोगी राजनीति की छूट तब तक रहती है जब तक यह आर्थिक विकास के प्रयत्नों व आर्थिक न्याय की व्यवस्था में बाधक नहीं बने।

विकासशील राज्यों में आर्थिक न्याय के लिए आर्थिक विषमताओं में कमी के प्रयत्न तथा आर्थिक विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए राजनीतिक स्वतंत्रताओं व प्रतियोगी राजनीति पर प्रतिबन्ध लगाना लोकतंत्र का प्रमुख लक्षण है। वास्तव में ऐसा करना लोकतंत्र को, लाखों–करोड़ों नंगे, भूखे व बीमार लोगों के लिए अर्थपूर्ण बनाना है। उदाहरण के लिए, भारत में लोकतंत्र का वही रूप स्थापित होता जा रहा है। 26 जून 1975 में भारत में संकटकाल की घोषणा करके कुछ लोगों की बेरोकटोक चल रही स्वतंत्रताओं को सीमित करना वास्तव में लोकतंत्र का लोप नहीं है। यह लोकतंत्र को सही रूप प्रदान करता है। अतः हम नोर्मन डी0 पांमर के 'एशियन सर्वे' के फरवरी 1976 के अंक में छपे एक लेख को उपयुक्त नहीं मान सकते हैं। पश्चिमी देशों में भारतीय राजनीति के विशेषज्ञों में से अनेक ने ऐसे ही शीर्षकों का प्रयोग करके अपने लेखों में यह बताने का प्रयास किया है कि भारत में 'लोकतंत्र का युग' समाप्त हो गया है। इन लेखकों ने लोकतंत्र के अन्त का केवल एक ही कारण प्रमुख माना है और यह है सरकार द्वारा कुछ लोगों की मनमानी करने की स्वतंत्रता को प्रतिबन्धित करना। क्या राजनीतिक स्वतंत्रता को, अगर यह कुछ लोगों को ही अर्थो में प्राप्त हो तो समाज के आधारभूत मूल्यों को समाप्त करने के लिए बेरोकटोक प्रयुक्त होने देना, जिससे वे असंख्य लोगों को शोषण कर सकें, अपने हितों की पूर्ति में उनका प्रयोग कर सकें, लोकतंत्र कहेंगे? लोकतंत्र में जन–सहभागिता अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जाती है। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने 15 नवम्बर 1975 में इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कान्फ्रेंस के 56वें सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए शायद ठीक ही कहा था कि "स्वतंत्रता तभी वास्तविक बनती है जब यह उन बहुसंख्यक लोगों के लिए, जो अत्यधिक पीड़ित व उपेक्षित रहे हैं, कुछ राहत ला सके तथा सुविधाएं देश के गरीब से गरीब व्यक्ति तक पहुंचा सके।" भारत में पिछले 25 वर्षो तक तथाकथित उदारवादी लोकतंत्र के नाम में कलंक न लगने देने के लिए संवैधानिक साधनों का, कुछ वर्गो व लोगों द्वारा खुलकर जन शोषण में प्रयोग होता रहा है और विदेशी व भारतीय विद्वान राजनीतिक व्यवस्था की लोकतान्त्रिकता की दुन्दुभी बजाते रहे, स्वतंत्रताएं बनी रहीं तथा शोषण, अन्याय व अव्यवस्था बढ़ती गई पर इन विद्वानों का कहना था कि यह सब लोकतंत्र की जड़ों का गहरा जमना है। वास्तव में, यह पश्चिमी विशेषज्ञ जिनमें माइरन वीनर भी एक हैं, भारत आकर गगनचुम्बी होटलों के वातानुकूलित कमरों से ही भारतीय लोकतंत्र का जायजा लेते रहे और निष्कर्ष निकालते रहे कि भारत का लोकतंत्र, एशिया में लोकतंत्र का चिराग जलाये हुए है। जबकि वास्तविकताएं कुछ और ही दृश्य उपस्थित करती हैं। स्वतंत्रता, राजनीतिक समानता, सामाजिक व आर्थिक न्याय तथा जन–कल्याण केवल कुछ वर्गो के कुछ लोगों के लिए, समस्त लोगों के हितों की कीमत पर सार्थक रह गया था। ऐसी अवस्था में लोकतंत्र को 'पटरी पर' नहीं 'पटरी से उतरा' हुआ ही कहा जा सकता है। अतः लोकतंत्र को सामाजवादी दृष्टिकोण समस्त जनता के लिए स्वतंत्रता की व्यवस्था करने के लक्ष्य से प्रेरित, आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक समानता की ऐसी व्यवस्था है जिसमें सम्पूर्ण जनता के साथ न्याय हो और सबकी हित साधना हो सके।

लोकतंत्र का समाजवादी दृष्टिकोण, उदारवादी लोकतंत्र व साम्यवादी लोकतंत्र के बीच का मार्ग नहीं है। यह अपने आप में एक विशिष्ट विचार है। जिसमें लोकतंत्र की सैद्धान्तिक व्यवस्था को व्यावहारिक

रूप में प्राप्त करने का प्रयास निहित है। समाजवादी लोकतंत्र में राजनीतिक समानता व स्वतंत्रता पर भी बल दिया गया है तो साथ ही इसके सामाजिक व आर्थिक पक्षों के महत्व को भी आधारभूत माना गया है। यह इन दोनों का माध्यम वर्ग इसलिए नहीं है क्योंकि इसमें दोनों प्रकार के लोकतंत्रों के समन्वय के स्थान पर दोनों से अलग मूल्य, सिद्धान्त व साधन अपनाए गए हैं। उदारवादी व साम्यवादी लोकतंत्र बेमेल है। इनका सम्मिश्रण सम्भव ही नहीं है। अतः लोकतंत्र के समाजवादी लोकतंत्र को इन दोनों की 'खिचड़ी' कहना गलत होगा। समाजवादी लोकतंत्र में स्वतंत्रता व समानता के विशेष अर्थ किए गए हैं तथा यह अर्थ लोकतंत्र की भावना के अधिक अनुरूप है, क्योंकि इन्हीं अर्थों में स्वतंत्रता व समानता तथा न्याय व्यक्ति की व्यक्तिगत गरिमा का अन्तिम उद्देश्य प्राप्त करा सकता है। यही राजनीति में जन–सहभागिता को अर्थपूर्ण और प्रतियोगी राजनीति की परिस्थितियां उत्पन्न करता है। अन्यथा 150 रुपये मासिक आमदनी वाले व्यक्ति की, डेढ़ लाख रुपये की मासिक आमदनी वाले व्यक्ति से, सभी स्वतंत्रताओं तथा उनके भोग की छूट के बावजूद क्या प्रतियोगिता हो सकती? समाजवादी लोकतंत्र इन दोनों में प्रतियोगिता को यथार्थवाद बनाने के लिए बराबर करने के स्थान पर दोनों के बीच की आर्थिक विषमता को कम से कम करने का लक्ष्य रखता है। अतः समाजवादी लोकतंत्र को सही अर्थ में समझने के लिए यह आवश्यक है कि समाजों की वास्तविकताओं की अनदेखी नहीं की जाए।

लोकतंत्र के इस दृष्टिकोण के विवेचन से यह स्पष्ट है कि दुनिया के अधिकांश राज्य लोकतंत्र के समाजवादी ढांचे में सम्मिलित नहीं किए जा सकते हैं। वास्तव में लोकतन्त्र का यह प्रतिमान अत्यन्त जटिल है। सामान्य संरचनात्मक हेर–फेर से राजनीतिक व्यवस्थाएं इस विचार की मौलिक मान्यताओं से हट जाती हैं। इसलिए डाक्टर इकबाल नारायण का यह निष्कर्ष कि "जो राज्य उदारवादी या साम्यवादी लोकतन्त्रों के अन्तर्गत नहीं आते वे समाजवादी लोकतन्त्र के नाम से जाने जाते हैं," मान्य नहीं हो सकता है। वास्तव में दुनिया के अधिकांश राज्य या तो उदारवादी लोकतंत्र या साम्यवादी लोकतन्त्र की श्रेणी में रखे जा सकते हैं तथा शायद भारत जैसे कुछ राज्य ही समाजवादी लोकतन्त्र के मानदण्ड के कुछ अनुरूप कहे जा सकते हैं। बाकी अनेक विकासशील राज्य न सैद्धान्तिक दृष्टि से यथा न व्यवहार में समाजवादी लोकतन्त्र की भावना के अनुसार प्रशासित होते हैं।

लोकतंन्त्र के विभिन्न दृष्टिकोणों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि लोकतन्त्र की अवधारणा परिवर्तित होती गई है। क्योंकि अभी भी मानव भौतिक स्तर पर ही जीवित रहने की कोशिश में पूर्णतया सफल नहीं हो पाया है। जब सम्पूर्ण मानवता एक निश्चित जीवन स्तर प्राप्त कर लेगी तब शायद लोकतंत्र के मूल्यों का पुनः निर्धारण होने लगेगा।

2.4. सारांश :

इस इकाई के अन्तर्गत हमने प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था की अवधारणा, सिद्धान्त, गुण व दोषों का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया है। तत्क्रम में समग्रवादी व्यवस्था के अन्तर्गत अधिनायकतंत्र, साम्यवादी व्यवस्था व समाजवादी व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त किया है। इसके गुण व दोषों का भी सुव्यवस्थित रूप में अध्ययन किया है।

2.5. बोध प्रश्न :

2.5.1 बहुविकल्पीय प्रश्न :

प्र0 1. किताब 'पोलिटिकल कन्टीन्यूइटी एण्ड चेन्ज' के लेखक है–

(अ) मर्कल (ब) ए.आर. बाल (स) बविस्कर (द) इनमें से कोई नहीं।

प्र0 2. 'पोलिटिकल सोशियोलॉजी' किसी कृति है–

(अ) बविस्कर (ब) मर्कल (स) जी.डी. मिचेल (द) इनमें से कोई नहीं।

प्र0 3. 'लोकतंत्र शासन जनता का, जनता के लिये और जनता द्वारा होता है।" कथन है–

(अ) अब्राहम लिंकन (ब) डायसी (स) मैक्सी (द) प्लेटो

प्र0 4. तानाशाह हिटलर सम्बन्धित है–

(अ) प्रजातंत्र से (ब) साम्यवादी तंत्र से

(स) अधिनायकतंत्र से (द) इनमें से कोई नहीं।

प्र0 5. इटली के अधिनायकवादी शासक के नाम से जाना जाता है–

(अ) स्टालिन (ब) हिटलर (स) मुसोलिनी (द) मार्क्स

2.5.2. बहुविकल्पीय प्रश्नों के उत्तर :

उ0 1. (अ) मर्कल

उ0 2. (स) जी.डी. मिचेल

उ0 3. (अ) अब्राहम लिंकन

उ0 4. (स) अधिनायकवादी तंत्र से

उ0 5. (स) मुसोलिनी

2.6. अभ्यास प्रश्न :

2.6.1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

प्र0 1. प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था की अवधाराणा व इसके महत्व पर प्रकाश डालियें?

प्र0 2. समग्रवादी व्यवस्था का समाजशास्त्रीय विवेचन कीजिये?

2.6.2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

प्र0 1. अधिनायकतंत्र से क्या आशय है?

प्र0 2. साम्यवादी व्यवस्था पर प्रकाश डालिये?

प्र0 3. प्रजातंत्र की परिभाषा बताइये?

2.7. संदर्भ सूची :

1. मिचेल, जी.डी. (1978), पॉलिटिकल सोशियोलॉजी,
2. बविस्कर, बी.एस. (1974), सोशियोलॉजी ऑफ पॉलिटिकल इन ए सर्वे ऑफ रिसर्च इन सोशियोलॉजी एण्ड एन्थ्रोपोलॉजी, खण्ड–2, बम्बई, पापुलर प्रकाशन,
3. आलटन आर. बाल (1971), मॉडर्न पॉलिटिक्स एण्ड गर्वनमेन्ट, लंदन, मेकमिल्लन,
4. पीटर एच. मर्कल (1967), पॉलिटिकल कन्टीन्यूटी एण्ड चैन्ज न्यूयार्क,

इकाई – 3 समाज में शक्ति वितरण के अभिजन सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 समाज में शक्ति वितरण के अभिजन सिद्धान्त

3.2.1 मोस्का

3.2.2 पैरेटो

3.2.3 राबर्ट मिशेल

3.2.4 सी0 राइट मिल्स

3.3 बुद्धिजीवियों की राजनीतिक भूमिका

3.4 दबाव समूह और हित समूहः प्रकृति तथा आधार

3.4.1 राजनीतिक महत्व

3.5 नौकरशाही

3.5.1 विशेषतायें

3.5.2 नौकरशाही का राजनैतिक विकास में महत्व (भारत के विशेष सन्दर्भ में)

3.6 बोध प्रश्न

3.7 सारांश

3.8 उपयोगी पुस्तकें

3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.10 स्वपरख प्रश्न/अभ्यास

समाज में शक्ति वितरण के अभिजन सिद्धान्त

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप इस योग्य हो सकेंगे कि

- शक्ति का समाजशास्त्रीय अर्थ समझ सकें।
- समाज में शक्ति वितरण को समझ सकें।
- समाज में शक्ति के वितरण के सामाजिक परिणामों के बारे जान सकें।
- समाज में शक्ति वितरण के प्रमुख सिद्धान्तों को समझ सकें।
- दबाव समूह और हित समूह की प्रकृति और आधार में भेद कर सकें।
- नौकरशाही का आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था में महत्व समझ सकें।

3.1 प्रस्तावना –

'शक्ति' एवं 'सत्ता' की अवधारणा समाजशास्त्र, राजनीतिक समाजशास्त्र और राजनीति–शास्त्र की मूल अवधारणा है। मानव के सार्वजनिक और राजनीतिक व्यवहार को समझने में इस अवधारणा का अतुलनीय महत्व है। यद्यपि इन दोनों का प्रयोग पर्यायवाची की तरह किया जाता है पर राजनीतिक समाजशास्त्र में इनका विशिष्ट अर्थ है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में शक्ति केवल कुछ लोगों अथवा अल्पसंख्यक समूह में ही केन्द्रित होती है। यह किस प्रकार होता है? राजनीतिक समाजशास्त्र में इन प्रश्न का उत्तर ढूँढने के प्रयासों के परिणाम–स्वरूप ही अभिजन (संभ्रांतजन या श्रेष्ठजन) सम्बन्धी सिद्धान्तों का विकास हुआ है। अभिजन सिद्धान्त इस तथ्य पर आधारित हैं कि प्रत्येक समाज में मोटे तौर पर दो भिन्न वर्ग पाये जाते हैं : एक, थोड़े या अल्पसंख्यक लोगों का वर्ग जो अपनी क्षमता के आधार पर समाज को सर्वोच्च नेतृत्व प्रदान करता है तथा शासन करता है, तथा दो, जन–समूह या असंख्य साधारणजनों का वर्ग, जिसके भाग्य में शासित होना लिखा है। प्रथम वर्ग को अभिजन वर्ग और दूसरे को जनसमूह कहा जाता है। अभिजन की अवधारणा को पहले केवल राजनीतिक दृष्टि से ही देखा जाता था तथा केवल शासक वर्ग एवं शक्तिशाली अभिजनों की ओर ध्यान दिया जाता था, परन्तु आज ऐसा नही हैं। आज अभिजनों में शक्तिशाली अभिजन वर्ग, पूँजीपति वर्ग, सैनिक अभिजन, शासक–वर्ग, बुद्धिजीवी वर्ग,

नौकरशाहों तथा प्रबन्धकों को भी सम्मिलित किया जाता है। शक्ति के असमान वितरण के अतिरिक्त सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययनों ने भी अभिजन सिद्धान्तों के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। आज अभिजन का संप्रत्यय राजनीति शास्त्र, समाजशास्त्र एवं राजनीतिक समाजशास्त्र में एक मौलिक संप्रत्यय माना जाता है। यह संप्रत्यय सामाजिक–राजनीतिक यथार्थ को समझने में काफी महत्वपूर्ण है क्योंकि प्रत्येक समाज में किसी न किसी प्रकार का सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक संस्तरण पाया जाता है।

3.2 समाज में शक्ति वितरण के अभिजन सिद्धान्त

अभिजन (Elite) शब्द का प्रयोग सत्रहवीं शताब्दी में विशेष एवं सबसे उत्तम वस्तुओं अथवा गुणों के लिए किया जाता था इस अर्थ में यह शब्द वज्र क्रैक सैनिक दस्तों अथवा अभिजात वर्ग जैसे उच्च स्तर के व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त्त होता था। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक इस शब्द का प्रयोग सामाजिक एवं राजनीतिक लेखों में व्यापक रूप से नहीं हुआ था। बीसवीं शताब्दी में द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् पश्चिमी देशों एवं अमरीका में अभिजन की अवधारणा एवं इसके सिद्धान्त काफी लोकप्रिय हुए तथा तभी से अभिजन की अवधारणा व्यापक रूप से सामाजिक विज्ञान में प्रयुक्त की जाने लगी।

विलफ्रेडो पैरेटो ने अभिजन को परिभाषित करते हुए कहा है कि प्रत्येक विशिष्ट मानवीय क्रिया (यथा न्यायालय, व्यापार, कला, राजनीति आदि) में अगर हम व्यक्तियों की गतिविधियों (धन्धे) के क्षेत्र के सूचकों को अंक दे दें तो जो व्यक्ति सर्वोच्च अंक प्राप्त करते हैं, उन्हें अभिजन कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, अभिजनों में उन सभी सफल व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाता है जो प्रत्येक गतिविधि में और समाज के प्रत्येक स्तर पर सर्वोच्च होते हैं। इनके शब्दों में जिन व्यक्तियों को किसी विशिष्ट मानवीय गतिविधि के क्षेत्र में सर्वोच्च अंक मिलें यदि उनका एक वर्ग बनाया जाय तो उस वर्ग को अभिजन वर्ग का नाम दे सकते हैं।

गिटानो मोस्का प्रथम विद्वान हैं जिन्होंने 'अभिजन' तथा 'जनसमूह' शब्दों का प्रयोग विशिष्ट अर्थो में किया है। इनके शब्दों में, सभी समाजों में उन समाजों से लेकर जिनका अभी बहुत कम विकास हुआ है और जो अभी तक सभ्यता की पहली किरणों का संस्पर्श भी ठीक से नहीं कर पाये हैं, उन समाजों तक जो सबसे अधिक विकसित एवं शक्तिशाली है, सभी समाजों में केवल दो प्रकार के वर्गों के लोग पाये जाते हैं। एक, उस वर्ग के लोग जो शासन करते हैं और दूसरे, जिन पर

शासन किया जाता है पहले वर्ग के लोग अल्पसंख्यक होते हुए भी सभी प्रकार के राजनीतिक कार्यों का नियन्त्रण अपने हाथों में रखते हैं, सारी सत्ता उनके हाथों में केन्द्रित होती है तथा सत्ता के लाभों का रस भी उन्हें ही मिलता है, जबकि दूसरा वर्ग बहुसंख्यक होते हुए भी प्रथम वर्ग द्वारा कभी वैध तरीकों से और कभी अधिक या कम मात्रा में स्वेच्छाचारी एवं हिंसक तरीकों से निर्देशित व नियन्त्रित रहता है। मोस्का के अनुसार सभी प्रकार के शासन में नियन्त्रण सदैव से सम्भ्रांत वर्ग के हाथ में होता है। साथ ही शासक वर्ग में कोई न कोई ऐसा गुण होता है जिसके कारण वह समाज में सम्मानित एवं प्रभावशाली माना जाता है, भले ही वे गुण यथार्थ हों अथवा महज दिखावे मात्र के रूप में ही बचे हों।

हेरॉल्ड डी0 लैसवेल ने राजनीतिक अभिजनों पर विशेष ध्यान दिया है। इनके शब्दों में राजनीतिक अभिजनों में राजनीतिक निकाय के सत्ताधारियों का समावेश होता है। सत्ताधारियों में वह नेतृत्व तथा सामाजिक रचना भी सम्मिलित है जिसमें नेताओं का उद्‌भव होता है तथा जिसके प्रति किसी निश्चित अवधि तक वे उत्तरदायी होते हैं। लैसवेल के समान रेमण्ड एस ने भी अभिजन वर्ग को मुख्यतः शासक वर्ग ही माना है जो अल्प–संख्या में होता है। इन्होंने अभिजन वर्ग एवं अन्य समाजिक वर्गो के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है तथा बुद्धिजीवी अभिजनों के सामाजिक प्रभाव का विवेचन किया है जो कि राजनीतिक सत्ता की व्यवस्था का अंग नहीं होते।

टी0बी0 बॉटोमोर ने उपर्युक्त विद्वानों के विचारों से इस आधार पर असहमति प्रकट की है कि उन्होंने अभिजन के सिद्धान्त में निहित विचारधारा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया है। बॉटोमोर के अनुसार अभिजन की अवधारणा प्रजातंत्र के महत्व के विरोध में विकसित हुई है। इनके अनुसार 'आज अभिजन शब्द का प्रयोग आमतौर पर वस्तुतः उन प्रकार्यात्मक, मुख्यतः व्यावसायिक समूहों के लिए किया जाने लगा है जिनको समाज में (किसी भी कारण वश) उच्च स्थान प्राप्त है। इनके विचारों में अधिक नवीन काल के समाजशास्त्रियों ने अभिजन शब्द का प्रयोग अधिक छोटे व अधिक संगठित समूहों के लिए किया है जो कम अथवा अधिक रूप से पारस्परिक रूप से सयुंक्त सामाजिक वर्गों से सम्बन्धित हो सकते हैं। बाटोमोर के विचार में रेमण्ड एरन ही एक मात्र विद्वान हैं जिन्होंने अभिजन वर्ग में सम्बन्ध का अध्ययन किया है तथा यह बताने की चेष्टा की है कि वर्गो के उन्मूलन (उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व को समाप्त करने के अर्थ में) से सामाजिक स्तरीकरण, अभिजनों का निर्माण एवं राजनैतिक सत्ता की विषमताओं की समस्या का समाधान नहीं

होगा। दूसरे शब्दों में अभिजनों का अस्तित्व प्रत्येक प्रकार के समाज एवं राजनीतिक व्यवस्था में बना रहेगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि अभिजन की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा नही हैं तथा सामान्यतः संभ्रातजनों में उन व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाता है जो सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से अन्य व्यक्तियों अर्थात जन साधारण की अपेक्षा उच्च स्थिति रखते हैं इस विवेचन से हमें पता चलता है कि संभ्रातजन विविध प्रकार के हैं जैसे कि शासक वर्ग, शक्तिशाली संभ्रांतजन, बुद्धिजीवी वर्ग, प्रबन्धक, नौकरशाह तथा सैनिक अधिकारी इत्यादि।

अभिजन सिद्धान्तों के साथ पैरेटो, मोस्का, सी0 राइट मिल्स, एडवर्ड शिल्स, शुम्पीटर, रॉबर्टा मिचेल्स, जेम्स बर्नहम, रेमण्ड एरन, कार्ल मैनहाइम, हेरॉल्ड लैसवेल इत्यादि विद्वानो के नाम जुड़े हुए हैं। यहाँ पर कतिपय प्रमुख विद्वानों के विचारों का संक्षिप्त विवेचन ही समुचित होगा।

3.2.1 गिटानो मोस्का

मोस्का ने परेटो के अभिजन सिद्वान्त (जो मुख्यतः सामाजिक मनोवैज्ञानिक है) को एक राजनीतिक शास्त्री की दृष्टि से और अधिक विकसित करने का प्रयास किया तथा शासक वर्ग को और अधिक स्पष्ट रूप से परिभाषित किया है इन्होंने अभिजन और आमजन में विधिवत् भेद करके राजनीति के एक नवीन विज्ञान की रचना करने का प्रयास किया है।

मोस्का के अनुसार सभी प्रकार के राजनीतिक संगठनों अथवा शासन में एक तत्व ऐसा है जिसे हम विहंगम दृष्टि डालने पर भी देख सकते हैं। यह तत्व है प्रत्येक समाज का दो वर्गो में विभाजन–प्रथम, शासक वर्ग, अर्थात जो शासन करता है तथा द्वितीय, शासित वर्ग अर्थात जिस पर शासन किया जाता है।

मोस्का के अनुसार, अभिजन (जिसे वह शासक वर्ग कहते है) तथा आम–जन में निम्नांकित तीन प्रमुख भेद पाये जाते हैं –

1. शासक वर्ग के लोगों की संख्या कम होती है अर्थात वह अल्पसख्यक हैं, जबकि शासित वर्ग बहुसंख्यक हैं।
2. सभी राजनीतिक कार्यों का निष्पादन शासक वर्ग द्वारा होता है न कि शासित वर्ग द्वारा, तथा
3. शासक वर्ग के हाथों में ही सारी सत्ता केन्द्रित होती है एवं यही वर्ग सत्ता के लाभों का रस लेता है, जबकि इसके विपरीत शासित वर्ग शासक वर्ग द्वारा निर्देशित और नियन्त्रित होता है।

मोस्का ने शासक वर्ग तथा आम जन में भेद करने के अतिरिक्त यह बताने का भी प्रयास किया है कि शासक वर्ग के पास शक्ति कहाँ से आती है अर्थात् यह वर्ग जन समूह पर शासन कैसे करता है। शासक वर्ग की शक्ति का प्रमुख स्रोत इसका संगठित होना तथा सामर्थ्य की दृष्टि से अन्य लोगों से श्रेष्ठ होना है। शासक वर्ग इसलिए संगठित है क्योंकि वह अल्पसंख्यक है और साथ ही श्रेष्ठ भी है। मोस्का के शब्दों में अल्पसंख्यक शासक वर्ग के सदस्यों में कोई न कोई गुण ऐसा अवश्य होता है जो उनके समाज में बहुत प्रतिष्ठित अथवा बहुत प्रभावशाली होता है, भले ही वह गुण यथार्थ हो अथवा केवल दिखावा मात्र।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि मोस्का ने शासक वर्ग के निम्नांकित लक्षणों को महत्वपूर्ण बताया है।

1. शासक वर्ग में उन व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाता है जो शासन करते हैं।
2. शासक वर्ग अल्पसंख्यक होता है।
3. शासक वर्ग संगठित होता है।
4. शासक वर्ग सभी राजनीतिक कार्यों का निष्पादन करता है।
5. शासक वर्ग शक्ति से प्राप्त होने वाले लाभों का आनन्द लेता है और शासित वर्ग को इससे वंचित रखता है।
6. शासक वर्ग समाज के महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली समूहों के हितों का प्रतिनिधित्व करता है।
7. शासक वर्ग नवीन मध्य वर्ग द्वारा समाज से घनिष्ठता पूर्वक जुड़ा होता है।

मोस्का के अभिजन सिद्धान्त में एक नवीन बात यह है कि इन्होंने प्रबन्धकों, सफेदपोश कर्मचारियों, वैज्ञानिकों एवं इंजीनियरों, विद्वानों एवं बुद्धिजीवियों को नवीन मध्य वर्ग में रखा है तथा उनके अनुसार इस वर्ग के द्वारा ही अभिजन वर्ग आम जन समूह से जुड़ा होता है। किसी राजनीतिक संगठन का स्थायित्व इसी वर्ग के नैतिक बौद्धिक या क्रियात्मक स्तर पर निर्भर करता है।

मोस्का ने भी पैरेटो के समान संभ्रांतजनों के परिचालन की व्याख्या प्रस्तुत की है जिसका आधार मनोवैज्ञानिक न होकर सामाजिक है। इनके शब्दों में, यदि समाज में सम्पत्ति का नवीन स्रोत उभर आता है अथवा ज्ञान का व्यावहारिक महत्व बढ़ जाता है, किसी पुराने धर्म का विनाश हो जाता है और नये धर्म का विकास होता है अथवा यदि समाज में कोई नवीन विचारधारा फैल जाती है, तब उसके साथ ही शासक वर्ग में दूरगामी असामंजस्य पैदा हो जाता है निम्न स्तर के अन्तर्गत

एक निर्देशक अल्पसंख्यक वर्ग विकसित हो जाता है जो शासक वर्ग के साथ वैध शासन की सत्ता संभालने के लिए संघर्ष करता है। अतः मोस्का ने भी पैरेटो के समान संभ्रातजनों के परिचालन की व्याख्या निम्नतम स्तर से आये अभिजनों तथा स्वंय अभिजनों में परस्पर संघर्ष द्वारा की है। मोस्का द्वारा मनोवैज्ञानिक लक्षणों को महत्व न देने का कारण उनकी यही मान्यता थी कि व्यक्ति–परक गुणों की उत्पत्ति सामाजिक गुणों के आधार पर होती है।

मोस्का के विचार यद्यपि कार्ल मार्क्स के विचारों से काफी सीमा तक मिलते–जुलते हैं, फिर भी इन्होंने मार्क्स की भाँति इतिहास की व्याख्या केवल आर्थिक आधार पर न देकर सामाजिक परिवर्तन में नैतिक तथा धार्मिक प्रभावों पर भी बल दिया है। बॉटोमोर ने मोस्का के सम्भ्रांतजन के सिद्धान्त को पैरेटो के सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक तार्किक बताया है यद्यपि इससे भी समूहों के संचार और सम्भ्रातंजनों के उत्थान एवं पतन में पाये जाने वाले सम्बन्धों का कोई पता नहीं चलता है।

3.2.2. विल्फ्रेडो परेटो

पैरेटो प्रथम विद्वान हैं जिन्होंने अभिजन एंव आमजन में भेद करने का प्रयास किया है। इनके अनुसार अभिजन वर्ग में उन सभी सफल व्यक्तियों की गणना की जा सकती है जो प्रत्येक मानवीय गतिविधि और समाज के प्रत्येक स्तर पर उच्चतम शिखरों तक पहुँच जाते हैं। वकीलों, वैज्ञानिकों तथा यहाँ तक कि चोरों व वैश्याओं के भी अपने–अपने अभिजन होते हैं। परेटो के अनुसार, प्रत्येक समाज को दो वर्गो में विभाजित किया जा सकता है –

1. निम्नतम स्तर, जिसमें असम्भ्रांतजन अथवा जन समूह सम्मिलित है, तथा
2. उच्चतर स्तर, जिसमें सम्भ्रातंजन को सम्मिलित किया जाता है।

संभ्रांतजन भी दो प्रकार के होते हैं (अ) शासक सम्भ्रांतजन, तथा (ब) गैर शासक सम्भ्रांतजन। शासक सम्भ्रतजनों में वे व्यक्ति आते हैं जो शासन के भीतर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, जबकि गैर शासक संभ्रातजन में वे व्यक्ति सम्मिलित किये जाते हैं जो सेना, व्यापारिक क्षेत्रों, धार्मिक संगठनों अथवा अन्य मानवीय क्रियाओं (सत्ता संरचना के अतिरिक्त) में सर्वोच्च स्थान रखते हैं।

समाज में अभिजन एवं आमजन की संरचना स्थायी नहीं होती है। तथा इनमें परिवर्तन होते रहते हैं आमजन के कुछ सदस्य अपनी बुद्धि एवं उच्च गुणों में सम्पन्न तत्व उभरने के कारण अभिजन में आ जाते हैं जबकि सम्भ्रांत वर्ग (शासक वर्ग) के कुछ लोग उत्तम गुणों के अभाव के कारण आमजन में वापस चले जाते हैं अतः आमजन और अभिजन के सदस्यों में अनवरत रूप से परिचालन होता रहता है। परेटो ने अभिजनों के परिचालन को यहीं तक सीमित न रखकर, इसमें उस प्रक्रिया को भी सम्मिलित किया है जिसमें एक अभिजन वर्ग का स्थान दूसरा अभिजन वर्ग ले लेता है। अन्य शब्दों में, परिचालन की यह प्रक्रिया कभी संभ्रांत वर्ग और जन समूह में तथा कमी एक सम्भ्रातवर्ग से दूसरे सम्भ्रात वर्ग में परिवर्तनों प्रत्यावर्तनों के रूप में देखी जा सकती है।

पैरेटो के अनुसार, अभिजन वर्ग में सदैव परिवर्तन होते रहते हैं। आज जो शासक वर्ग किसी देश पर शासन कर रहा है, समयानुसार उसके उच्च गुणों के अभाव और अधोगामी तत्वों की संख्या में वृद्धि हो जाने के कारण उसका स्थान गैर–शासक वर्ग के गुणों में सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा ले लिया जाता है। निम्नतर स्तर से आने वाले व्यक्ति संख्यात्मक दृष्टि से नही, अपितु गुणात्मक दृष्टि से पुनः शासक वर्ग की स्थापना कर देते हैं। कई बार ऐसा भी होता है कि शासक वर्ग का स्थान अन्य गैर शासक सम्भ्रात वर्ग द्वारा ले लिया जाता है। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है और इसी को अभिजनों के परिचालन का संप्रत्यय कहा जाता है। इस प्रक्रिया के माध्यम से समाज का प्रत्येक सम्भ्रात वर्ग अन्ततः नष्ट हो जाता है। इसी सन्दर्भ में पैरेटो ने इतिहास को कुलीन वर्गों का शमशान कहा है।

पैरेटो के अनुसार विभिन्न प्रकार के अभिजन वर्गों की मानसिक स्थिति में समय–समय पर परिवर्तन होता रहता है। अभिजनों में परिचालन की व्याख्या के सन्दर्भ में पैरेटो ने मनोवैज्ञानिक लक्षणों अथवा अवशेषों (Residuss) के संप्रत्यय को विकसित किया है। अवशेषों से अभिप्राय उन वास्तविक गुणों से है जिनके द्वारा मनुष्य जीवन में ऊँचा उठ सकता है तथा जिससे तर्क–शून्य (अविवेकी) कार्य, तार्किक कार्य दिखायी देते हैं। वह इन तत्वों (जिनसे तर्क–शून्य कार्य, तार्किक दिखायी देते हैं) को छः अवशेषों में ढूँढ़ता है। इनमें से प्रथम दो अवशेष अधिक महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इन्हीं की सहायता से शासक वर्ग अपने को सत्ता में बनाये रखने में सफल होता है। मिश्रित तत्वों से अभिप्राय चालाकी और समुच्चय–सातत्य से अभिप्राय बल प्रयोग है। पैरेटो ने अभिजनों के इन दो वर्गो की तुलना सटोरियों (Speculators) किराय जीवियों (Rentiers) से की है जो क्रमशः चालाकी और बल प्रयोग को काम में लाते हैं। इन अवशेषों द्वारा निर्धारित कार्य जिन रीतियों द्वारा तार्किक

कार्यो का रूप ग्रहण करते हैं उन्हें पैरेटो भ्रांत तर्क (Derivation) कहता है। पैरेटो का कहना है कि कुलीन तन्त्रीय व्यवस्थाओं का पतन संख्या की दृष्टि से ही नहीं होता, अपितु इस दृष्टि से भी होता है कि उनकी शक्ति घट जाती है अर्थात् वे जिन अवशेषों के कारण शक्ति प्राप्त करते हैं तथा उसे अपने हाथों में बनाये रखते हैं, उनके अनुपात में ह्रास आ जाता है। निम्नतर वर्गों से ऊपर उठने वाले परिवार शासक वर्ग को पुनः सशक्त बना देती हैं। कई बार क्रांन्तियाँ भी शासक वर्ग को पुनः सशक्त बना देते है। कई बार क्रान्तियाँ भी शासक वर्ग की ह्रासमान शक्ति को पुनः संचित करने में सहायता देती है।

3.2.3 रॉबर्ट मिशेल्स

रॉबर्ट मिशेल्स ने अपनी पुस्तक 'पॉलिटिकल पार्टीज : सोसियोलॉजिकल स्टडी ऑफ द ओलिगार्किकल ऑफ मॉर्डन डेमोक्रेसी' (1915) में अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। मिशेल्स का अधिकांश विश्लेषण अब भी मान्य है उनका कार्य अभी भी अल्पतंत्र के शोध के क्षेत्र में संदर्भ बिन्दु है। मिशेल्स ने अल्पतंत्र का लौह नियम प्रतिपादित किया अर्थात प्रत्येक दीर्घ समूह एक अल्पतन्त्र द्वारा संचालित होता है।

लम्बे समय से समाजशास्त्री इस तथ्य से परिचित हैं कि अधिकांश वृहत ऐच्छिक संगठनों में, चाहे कैसा भी उनका औपचारिक ढाँचा अथवा विचारधारा हो, बहुत थोड़े से व्यक्ति (अल्पतंत्र) अपने को सत्ता में जमा लेते हैं और लम्बे समय तक वहीं बने रहते हैं। अधिक सामान्य रूप से, यह अल्पतन्त्रीय शासन की प्रवृत्ति उन सभी वृहत् संगठनों में पायी जाती है जिनमें कि अधिकांश सहयोगियों के लिए अपेक्षाकृत निष्क्रिय रहना सम्भव हो। इस प्रकार अल्पतंत्र 'सेवा' संगठनों जैस रोटरी, अमरीकन लीजियॉन व रेडक्रॉस में ही नहीं पाया जाता वरन् यह श्रमिक संघों में भी एक प्रकार से सर्वव्यापी है, जो कि सदैव ऐच्छिक संगठन नहीं होते।

'अल्पतंत्र' मोटे अर्थो में यह हो सकता है कि शीर्ष नेता सदैव ही संगठन की कुल सदस्यता की अपेक्षाकृत एक छोटी सी श्रेणी में से आती है। अल्पतंत्र में कठिन निर्णयों वाली संश्लिष्ट समस्याओं वाले वृहत संगठनों में प्रशिक्षित तथा अनुभवी सदस्यों को ही सत्ता सौंपने की प्रवृत्ति पाई जाती है। अल्पतंत्र का यह भी अर्थ हो सकता है कि कुछ व्यक्तियों का एक छोटा सा समूह ही सत्ता में सदैव बना रहता है। यद्यपि नेतृत्व में जो व्यक्ति है वह बदल जाते हैं फिर भी वह छोटी मण्डली नये नेताओं को उन नियमों के आधार पर चुनती है जो कुछ अंशों तक संगठन के उद्देश्यों

की अवहेलना करते हैं और उन योग्य व्यक्तियों की आकांक्षाओं को कुंठित कर देते हैं जो कि उन उद्देश्यों के प्रति अधिक निष्ठावान हो सकते थे। अल्प तन्त्र के विश्लेषक अंतिम दो अर्थो में ही रूचि रखते हैं।

जिन संगठनों की स्वीकृत विचार धारा ही खुले रूप में प्रजातंत्र विरोधी हो, जैसे कि फाासिस्ट दल या जिन संगठनों जैसे कि सम्यवादी दल, में 'केन्द्रीयता' प्रजातांत्रिक ढांचे का एक अपूर्ण स्परूप हो, उनमें अल्पतंत्र को समझने में कोई दिक्कत नहीं होती। किन्तु अल्पतंत्र समाजवादी दलों में भी पाया जाता है, जो कि औपचारिक दृष्टि से और यथार्थ में, अन्य दलों की अपेक्षा, जिनके विषय में हम जानते हैं, अधिक प्रजातांत्रिक है। समाजवादी दलों में चोटी के नेताओं का अधिक समय तक बने रहना ध्यान देने योग्य बात है।

3.2.4 सी0 राइट मिल्स

सी0 राइट मिल्स ने शासक वर्ग सम्बन्धी अनेक कठिनाइयों का समाधान अपनी पुस्तक 'द पॉवर एलीट (1939)' में किया है। मिल्स जहाँ एक तरफ पैरेटो तथा मोस्का से प्रभावित थे वहीं दूसरी तरफ मार्क्स का भी उन पर प्रभाव कुछ कम न था। मिल्स ने 'शासक वर्ग' की अवधारणा जो कि एक बोझिल शब्द है, का प्रयोग न करके 'शाक्तिशाली अभिजन वर्ग' संप्रत्यय का प्रयोग किया है। वर्ग एक आर्थिक रूप से परिभाषित शब्द है। शासक वर्ग के संप्रत्यय से यह आभास होता है कि एक आर्थिक वर्ग राजनीतिक दृष्टि से शासन कर रहा है जो सदैव ठीक नहीं उतरता है। साथ ही शासक वर्ग सैनिक अधिकारियों को सम्मिलित नहीं करता जबकि अगर अमरीका की स्थिति को देखा जाये तो आर्थिक निर्णायकवाद की व्याख्या राजनीतिक निर्णायकवाद तथा सैनिक निर्णायकवाद के आधार पर की जा सकती है।

मिल्स ने शाक्तिशाली अभिजन की परिभाषा शक्ति साधनों, अर्थात आदेश देने वाले पदों पर आसीन व्यक्तियों के रूप में की है इनके शब्दों में, शाक्तिशाली अभिजन की रचना उन व्यक्तियों के द्वारा होती है जो अपने पदों के कारण सामान्य पुरूषों एवं स्त्रियों के सामान्य पर्यावरण से ऊपर उठ जाते है तथा ऐसे पदों पर आसीन हैं जो प्रमुख परिणामों से सम्बन्धित निर्णय ले सकते हैं। शाक्तिशाली अभिजन वास्तव में निर्णय लेते हैं या नहीं, यह इतना महत्वपूर्ण प्रश्न नहीं जितना कि यह तथ्य कि वे महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त हैं। वे आधुनिक समाज में बड़े संगठनों को भी नियंत्रित

करते हैं तथा सैनिक प्रस्थान के लिए दिशा प्रदान करते हैं। सामाजिक संरचना में भी शाक्तिशाली सम्भ्रांतजनों का काफी महत्वपूर्ण तथा प्रभावशाली स्थान होता है।

मिल्स ने भी मोस्का के समान शक्तिशाली अभिजनों को पृथक शासकों के रूप में स्वीकार नहीं किया है अपितु इन्हें मध्य स्तर के राजनीतिज्ञों द्वारा जन समूह से सम्बन्धित बताया है। इनके शब्दों में 'शक्तिशाली' अभिजन पूर्णतः पृथक शासक नहीं हैं। सलाहकार, प्रवक्ता तथा नीति निर्माण कर्ता उनके उच्च विचारों तथा निर्णयों के आधार हैं। अभिजनों के नीचे मध्य स्तर के व्यवसायिक राजनीतिज्ञ हैं। जिनमें कांग्रेस प्रभाव समूहों, कस्बों, नगर अथवा क्षेत्र के उच्च वर्ग के व्यक्तियों को सम्मिलित किया जा सकता है।

मिल्स ने अमरीकी समाज में पाये जाने वाले तीन प्रकार के शक्तिशाली अभिजनों का उल्लेख किया है :

1. कंपनी अध्यक्ष
2. राजनीतिक नेता
3. सेनापति

इन तीनों को एक श्रेणी में रखने का प्रमुख कारण यह है कि तीनो ही उच्च वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं और शासक वर्ग का निर्माण करते हैं। इनमें एकीकरण का आधार एक समान सामाजिक पृष्ठभूमि, व्यक्तिगत एवं पारिवारिक सम्बन्ध तथा तीनों में सामान्य परिचालन हैं मिल्स ने अमरीकी समाज को जन समाज की संज्ञा दी है क्योंकि इसमें शक्तिशाली संभ्रांतजन जन समूह को खुशामद, धोखा धड़ी और मनोरंजन के द्वारा खामोश रखता है। यद्यपि राजनीतिक निर्णय लेने के लिए अनेक छोटे एवं स्वायत्त समूह पाये जाते हैं, फिर भी समस्त महत्वपूर्ण मुद्दों पर अन्तिम रूप से निर्णय लेने का अधिकार शक्तिशाली अभिजनों के पास ही है। मिल्स के अनुसार शक्तिशाली अभिजन अपने निर्णयों के लिए जनता के समक्ष उत्तरदायी न होने के कारण तथा सम्पत्ति संग्रहण को प्रमुख मूल्य मान लेने के कारण भ्रष्ट हो जाते हैं। इनके अनुसार शक्तिशाली अभिजन का सिद्धान्त इतिहास का सिद्धान्त नहीं है क्योंकि राष्ट्रीय महत्व एवं दूरगामी परिणामों वाले मामलों के बारे में निर्णय लेने के बावजूद शक्तिशाली अभिजन इतिहास के निर्माता नहीं कहे जा सकते।

3.3 बुद्धिजीवियों की राजनैतिक भूमिका

किसी भी समाज की राजनीति में बौद्धिकों और विचारधाराओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। बौद्धिक राजनीतिक व्यवस्थाओं का मूल्यांकन करते हैं, नवीन विचारधाराओं को जन्म देते हैं, कानून तथा समाज में असमानता, राजा की स्वेच्छाचारिता एवं दैवी अधिकारों पर विचार व्यक्त करते हैं और तर्क की कसौटी पर परम्परागत संस्थाओं का अनौचित्य सिद्ध करते हैं। बौद्धिक नवीन आन्दोलनों को जन्म देते हैं, क्रान्तियों एवं राजनैतिक परिवर्तन की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। बौद्धिकों की राजनैतिक भूमिका 'फ्रांस की क्रांन्ति (1789ई0)' में आदर्श उदाहरण के रूप में उभर कर सामने आयी। क्रांति के सन्दर्भ में नेपोलियन बोनापार्ट का कथन है कि यदि रूसो न हुआ होता तो फ्रांस की क्रांति न हुई होती। लुई सोलहवां अपने को बचा सकता था यदि उसने लेखन को नियंत्रित किया होता। इस कथन से रूसो और उसके समकालीन बौद्धिकों वॉल्टेयर, मॉन्टेसक्यू दिदरो, कांडोर्सेट तथा क्वेटलेट आदि का क्रान्ति पर स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

विचारकों ने न केवल प्राचीन व्यवस्था को तोड़फोड़ कर नष्ट करने का संकेत दिया, वरन् उस पुरातन व्यवस्था के स्थान पर नवयुग के निर्माण का संदेश दिया। ये विचारक सामाजिक जीवन की दुर्बलताओं पर प्रकाश डालकर तथा उनकी कड़ी आलोचना करके जनता के रोष तथा उनकी आकांक्षाओं को व्यक्त कर रहे थे। क्रान्ति के समय इन विचारकों की प्रमुख विचारधाराओं के अनुरूप ही फ्रांस को निर्मित करने का प्रयास किया गया तथा क्रान्ति के प्रमुख नेतागण इन विचारकों की विचारधाराओं के ऋणी थे। इन लेखकों के साहित्य की विशेषताएं कटु आलोचनाएं और निन्दा थी और उसमें भविष्य को अधिक सुन्दर और सुखी बनाने के लिए विलक्षण सुझाव भरे पड़े थे वास्तव में, वे महान् क्रान्तियाँ थी जिनका प्रभाव पहले फ्रांस में और फिर समस्त यूरोप में फैल गया। विचारों के इस व्यापक आन्दोलन में प्रचलित दोषों तथा उनके निवारण से सम्बन्धित इस निरन्तर और गम्भीर वाद–विवाद ने आने वाली उन महान घटनाओं का मार्ग प्रशस्त किया जो फ्रांस तथा समस्त यूरोप के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुईं।

विचारकों में सर्वप्रथम मॉन्टेस्क्यू का नाम उल्लेखनीय है। मॉन्टेस्क्यू ने राजा के दैवी सिद्धान्त को गलत बताया तथा उसकी स्वेच्छा–चारिता का विरोध किया। उसने सांविधानिक राजतंत्र स्थापित करने का सुझाव रखा। उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'द स्प्रिट ऑफ लॉ' में बताया कि राज्य द्वारा सम्पादित तीनों शक्तियों कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्याय–पालिका एक ही व्यक्ति द्वारा

संचालित होने से शासक परम स्वेच्छाचारी हो जाता है। अतः व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए इन तीनों शक्तियों का पृथक–पृथक रहना आवश्यक है। वॉल्टेयर ने धार्मिक व्यवस्था और चर्च को अपने प्रहार का शिकार बनाया। उसने जनता को बताया कि उन्हें वही बातें ठीक माननी चाहिए जो उनके विवाद और विवेचना की कसौटी पर खरी उतरें। विचार के द्वारा ही किसी संस्था के गुण दोषों को माना जा सकता है तथा अन्धविश्वासों को दूर किया जा सकता है। रूसो एक नवीन कार्यक्रम लेकर जनता के समक्ष उपस्थिती हुआ। उसने अपनी पुस्तक 'सोशल कॉन्ट्रैक्ट' के माध्यम से उसने बताया कि राजा का पद कोई दैवी वस्तु नहीं था। रूसो ने मानव के अधिकारों की घोषणा की और स्वतंत्रता तथा समानता को मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार बताया जिनकी प्राप्ति एक प्रजा–तान्त्रिक व्यवस्था में हो सकती है। अतः राजतंत्र के स्थान पर प्रजातंत्र की स्थापना होनी चाहिए। उसके सुप्रसिद्ध नारे 'प्राकृतिक दशा में लौटो' ने फ्रांस की जनता को विशेष रूप से आकर्षित किया।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि बौद्धिक परिवर्तन क्रान्ति और सुधारों के लिए आधार तैयार करते हैं। विचारकों का प्रभाव क्रान्ति और परिवर्तन के प्रवाह पर पड़ता है। क्रान्ति और परिवर्तन के नेता अपने कृत्यों को उचित बताने के लिए बौद्धिकों का हवाला देते हैं। उनकी यही राजनैतिक भूमिका उल्लेखनीय है।

3.4 दबाव समूह और हित समूह : प्रकृति तथा आधार

लोकतांत्रिक राज्यों की कार्य प्रणाली और राजनीतिक व्यवहार के निर्धारण में 'दबाव समूह' अथवा 'हित समूह' की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। ये दोनों अवधारणाएं एक नहीं हैं हित समूह जहाँ अपने सदस्यों के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक हितों की रक्षा करते हैं, वहीं पर दबाव समूह दूसरे समूहों और अधिकरणों के निर्णयों को अपने राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक दबाव के कारण प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं।

दबाव समूह का ध्यान मुख्य रूप से प्रतिकार और प्रतिरोध की दिशा में निर्देशित होता है। दबाव समूह समान आर्थिक हित वाले व्यक्तियों का समूह है, जो सरकार के विभिन्न अंगों–व्यवस्थापिका, प्रशासन और न्यायपालिका के निर्णयों तथा क्रियाओं को प्रभावित करने की चेष्टा करता है। भारत में इस दृष्टि से अनेक दबाव समूह कार्यरत हैं। इनमें मुख्य उद्योगपतियों, व्यापारियों, श्रमिकों, किसानों, युवकों और महिलाओं के विभिन्न संगठन हैं जो सरकार की कार्य प्रणाली को प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। पिछले कुछ वर्षों से पर्यावरण तथा पारिस्थितिकी से

सम्बन्धित अनेक दबाव समूह कार्यरत हैं जो पर्यावरण की स्वच्छता पर जोर दे रहे हैं और सरकारी नीतियों को इस दिशा में प्रभावित करने की चेष्टा कर रहे हैं।

आर्थिक हितों और लक्ष्यों की भिन्नता के उपरांत भी विभिन्न दबाव समूहों की कार्य प्रणाली में काफी समानता दिखायी पड़ती है। प्रायः सभी दबाव समूह सम्बन्धित मंत्रालयों, संसद सदस्यों आदि से भेंटवार्ता, विचार विमर्श, पत्र लेखन, स्मरण पत्र, समाचार पत्रों के संपादक के नाम पत्र आदि के माध्यम से अपने दृष्टि कोण को सरकार, संसद, विधान सभा तथा जनता के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। चुनावों में दबाव समूहों की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है जो दल, पदाधिकारी, सांसद उनके दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं, ये दबाव समूह भी उनके विजय की भरपूर चेष्टा करते हैं।

भारतीय परिस्थितियों में दबाव समूह केवल आर्थिक हितों के रक्षक के रूप में ही कार्य नहीं करते हैं। इन समूहों के अभ्युदय में भाषा, संस्कृति, क्षेत्रीयता, जाति, धर्म आदि की भूमि का भी काफी महत्वपूर्ण है।

दबाव समूहों को वर्तमान राजनीतिक प्रक्रियाओं में लॉबीज़ के प्रचलित नाम से जाना जाता है। इनकी मुख्यतः दो आधारों पर आलोचना की जाती है प्रथम, इससे सदैव ऐसा आभास होता है कि यह समूह निर्णयकारी प्रक्रिया को प्रभावित करने के लिए दबाव अथवा अन्य ऐसे तरीके अपनाता है जो कि अनिवार्य रूप में उचित नहीं हैं तथा द्वितीय, इसका प्रयोग अधिकतर हेयता सूचक शब्द के रूप में किया गया है क्योंकि इससे यह भी आभास होता है कि यह समूह सदैव लुकी–छिपी साजिशों द्वारा सरकार की प्रक्रियाओं को प्रभावित करने का प्रयास करता है। जो कि उचित नहीं है।

3.4.1 राजनीतिक महत्व

दबाव समूह सरकारी संस्थाओं की प्रधानता वाले पर्यावरण में क्रियाशील होते हैं, अतः इनके द्वारा अपनाये जाने वाले दाँव–पेंच एंव युक्तियाँ काफी सीमा तक इसी पर्यावरण द्वारा प्रभावित होती हैं। प्रथम, कुछ समूहों के उद्देश्य प्रभावक समूहों के अनुकूल हो सकते हैं, परन्तु कुछ इनके प्रतिकूल भी होते हैं। द्वितीय, निर्णय कर्ताओं का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्थाएं दबाव–समूहों की सक्रियता एवं उद्देश्यों के प्रति सहानुभूतिपरक हो सकती हैं। अथवा इनके प्रति विरोधी अभिवृत्तियों के कारण इनके विकास को प्रभावित कर सकती हैं। तृतीय, राजनीतिक दल भी दबाव समूहों का महत्वपूर्ण पर्यावरण है। दुर्बल राजनीतिक दल एवं दलीय अनुशासन का अभाव दबाव समूहों को विकसित करने का अवसर प्रदान करते हैं। जबकि सक्षम एवं मजबूत राजनीतिक दल इनके विकास में बाधक हैं तथा इन्हें अपने नियंत्रण एवं निर्देशन में लाने का प्रयास करते हैं। दलीय व्यवस्था के

स्वरूप एवं दलों की संरचना का भी दबाव समूहों की युक्तियों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। चतुर्थ, दबाव समूहों का प्रचालन व्यक्तियों तथा उनकी राजनीतिक संस्कृति द्वारा भी प्रभावित होता है। उदाहरणार्थ, भारत में राजनीतिक संस्कृति प्रभावक समूहों को प्रादेशिकता के प्रति घृणित बना देती है। फ्रांस के लोग दबाव समूहों द्वारा शांन्तिमय सौदेबाजी की अपेक्षा प्रत्यक्ष सक्रियता एवं हिंसात्मक उपद्रवों में अधिक विश्वास रखते हैं जबकि अमरीका में दबाव समूहों की सक्रियता के प्रति सहिष्णुता की भावनाएं रखते हैं पर्यावरण की वस्तुओं के सन्दर्भ में दबाव समूहों के सामने दो सम्भावनाएं होती हैं :

1. पर्यावरण के अनुकूल अपने उद्देश्यों को परिवर्तित कर लेना।
2. पर्यावरण को अपने उद्देश्यों के अनुकूल परवर्तित करने का प्रयास करना।

अन्य शब्दों में दबाव समूहों की युक्तियाँ समायोजन अथवा संघर्ष की हो सकती हैं तथा सक्रियता की शैली भी इन्हीं युक्तियों पर निर्भर करती है।

दबाव समूहों का प्राथमिक लक्ष्य अपने हितों के अनुकूल सरकारी निर्णयों को प्रभावित करना होता है। अतः केवल निर्णायकों तक अपनी माँगें पहुँचाना ही पर्याप्त नहीं है अपितु उन्हें प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करना अधिक महत्वपूर्ण है। इसके लिए कई बार दबाव समूह जन–अभियोग द्वारा अनुकूल जनमत का निर्माण करने का भी प्रयास करते हैं। जन–अभियान की युक्ति केवल उन्हीं दबाव समूहों द्वारा अपनायी जाती है जिनकी आर्थिक स्थिति काफी अच्छी होती है। क्योंकि जन अभियान के लिए काफी धन की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए दबाव समूह समाचार पत्र में विज्ञापन देते हैं, इश्तिहार एवं पैम्फलेट जारी करने, विचार–गोष्ठियों एवं परिसंवादों का आयोजन करने अथवा फिल्मों आदि के प्रदर्शनों का आयोजन करने जैसे विविध साधनों का प्रयोग करते हैं। कई बार दबाव समूह भौतिक प्रदर्शन एवं हिंसा की विधियों को भी अपनाते हैं। ये विधियां मुख्यतः अप्रतिमानित दबाव समूहों द्वारा अपनायी जाती है, परन्तु कुछ परिस्थितियों में सभी प्रकार के समूह इन्हें अपनाते हैं।

देश के ऐतिहासिक विकास एंव राजनीतिक संस्कृति का भी दबाव समूहों के दांव–पेंचों एवं युक्तियों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। कई बार इनके परिणामस्वरूप दबाव–समूह भौति प्रदर्शनों एवं हिंसक उपद्रवों को अपना साधन बना लेते हैं। पीरू इस प्रकार के देशों का प्रमुख उदाहरण है। ट्रेड यूनियनों को इनकी हिसंक संस्कृति के कारण ही शक की निगाहों से देखा जाता है। फ्रांस में भी कृषकों ने कई बार अपनी मागों के समर्थन में हिंसक युक्तियों को अपनाया है। उत्तर आयरलैंड में धार्मिक विभाजनों के कारण दबाव समूहों के लिए किसी एक धार्मिक समूह से कटकर कार्य

करना कठिन हो जाता है अतः किसी देश की राजनीतिक संस्कृति दबाव समूहों के दाँव–पेंचों एवं युक्तियों के स्वरूप, वेग एवं दिशा को प्रभावित करती है।

कई बार दबाव समूहों एवं निर्णायकों के बीच व्यक्तिगत सम्पर्क भी दबाव समूहों के हितों के अनुकूल नीति का निर्माण करवाने अथवा इसमें परिवर्तन करवाने में सहायक है। इसके लिए दबाव समूह परिवार, स्कूल, स्थानीय एवं सामाजिक सम्बन्धों का सहारा लेते हैं।

दबाव समूहों द्वारा अपने हितों की प्राप्ति की लिए अपनाई जाने वाली एक अन्य युक्ति शक्ति धारकों में घुसपैठ करना है ताकि केवल बाहर से ही नहीं अपितु अन्दर से भी निर्णयन प्रक्रिया को प्रभावित किया जा सके। इस युक्ति में प्रमुख लक्ष्य विधान मण्डल अथवा सरकार में अपने सदस्यों को पहुँचाना होता है। विधान मण्डलों में घुसपैठ राजनीतिक दलों के माध्यम से ही सम्भव है। कई बार दबाव समूह चुनाव के समय अपने प्रत्याशी खड़े करते हैं जो कि जीत जाने पर अपने प्रभावक समूह के हितों का ध्यान रखते हैं। सरकार में घुसपैठ विधान मण्डलों में घुसपैठ से कहीं अधिक प्रभावी है। इसके लिए दबाव समूह अपने सदस्यों को कुछ सरकारी पद प्राप्त करने में सहायता देते हैं। अमरीका में कुछ महत्वपूर्ण सरकारी पदों पर व्यापारियों के व्यवस्थापकों की नियुक्ति सामान्य सी बात है।

3.5 नौकरशाही

नौकरशाही का सम्बन्ध सत्ता के प्रथम प्रकार (तार्किक वैधानिक सत्ता) से है। यह कोई नवीन व्यवस्था नहीं है। वास्तव मे, इसका उद्‌भव एवं विकास उसी समय हो गया था जब प्राचीनकाल में विशाल साम्राज्यों की स्थापना हुई थी। विशाल साम्राज्यों को बनाये रखने के लिए तथा प्रशासन के सभी क्षेत्रों पर पकड़ कर रखने के लिए अधिकारियों की नियुक्तियों, उनके पदों, दायित्वों और अधिकारों के स्पष्ट विभाजन व निर्धारण की संगठन पद्वति का विकास हुआ। जगत् प्रसिद्ध कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नौकरशाही का स्पष्ट विवरण है। परन्तु जिस रूप में नौकरशाही को आज हम देखते हैं, उसका विकास औद्योगीकरण के साथ–साथ हुआ है। प्राचीन मिश्र तथा रोम में नौकरशाही की विद्यमानता के प्रमाण मिले हैं, परन्तु यह प्राचीन नौकरशाही पैतृक प्रशासन, जहाँ प्रशासक के व्यक्तिगत विचारों भावनाओं के आधार पर शासक होता था? आधुनिक नौकरशाही पूर्णतः अवैयक्तिक व्यवस्था है तथा पूँजीवाद एवं प्रजातंत्र के विचारों ने नौकरशाही को संगठन का अपरिहार्य रूप बना दिया है आधुनिक युग में इसका विकास सामान्यतः व्यक्तिगत स्वतंत्रता में कभी

से जोड़ा जाता है। इसके परिणामस्वरूप कुछ विद्वानों (यथा गुन्नार मिर्डल) ने इसके विपुल विकास की आलोचना की है और इसे सार्वजनिक धन का कुछ गिने– चुने व्यक्तियों के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दुरूपयोग बताया है। दूसरी ओर, कुछ विद्वानों (यथा, राइनहार्ड बैन्डिक्स) ने इस बात पर बल दिया है कि नौकरशाही के विकास से मानवीय स्वतंत्रता में वृद्धि हुई है। इसके विकास का परिणाम चाहे कुछ भी क्यों न रहा हो, आज यह वास्तविकता है कि नौकरशाही आधुनिक समाज की प्रमुख विशेषता है। यह सत्ता संचालन का एक प्रमुख साधन है।

'नौकरशाही' शब्द अंग्रेजी भाषा के शब्द 'ब्यूरोक्रेसी' का हिन्दी रूपान्तर है जिसका शाब्दिक अर्थ अधिकारी वर्ग की एक व्यवस्था अथवा बौद्विक रूप से परस्पर सम्बन्धित व्यक्तियों का संयोग है। अन्य शब्दों में, यह एक ऐसा औपचारिक संगठन है जिसमें व्यक्ति पदों के आधार पर विभिन्न स्थितियाँ रखते हैं और बौद्धिक रूप से एक–दूसरे से आबद्ध होते हैं। 19 वीं शताब्दी में यूरोप के देशों में विशेषतः जर्मनी में, ब्यूरोक्रेसी शब्द का प्रयोग अधिकारियों द्वारा शासित सरकार के लिए किया जाता था। कोज़र तथा रोजेनबर्ग के शब्दों में 'कर्मचारी तंत्र को एक सोपानिक संगठन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसे बड़े पैमाने पर प्रशासनिक कार्यो के अनुसरण में लगे अनेक व्यक्तियों के काम को समन्वित करने के लिए तर्कसंगत ढंग से रूपांकित किया जाता है। मैक्स वेबर के अनुसार नौकरशाही आधुनिक समाजों के बड़े प्रशासनिक संगठनों में बौद्विक एवं कुशल अभिकरण के रूप में कार्य करता है। यह एक ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था है जिसमें सत्ता के सोपान पाये जाते हैं तथा जिसमें प्रशिक्षित वेतन भोगी विशेषज्ञों को असामान्य मूर्त तथा स्पष्ट रूप से परिभाषित नियमों के अनुसार कार्य करना पड़ता है। वेबर ने अधिकारी तंत्र को दो रूपों में परिभाषित किया है :

(अ) वैधानिक सत्ता के रूप में – इस रूप में अधिकारी तंत्र विधि द्वारा स्थापित अवैयक्तिक व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति पद की सत्ता का प्रयोग इस आधार पर करते हैं कि उन्हें पद की सत्ता के दायरे में आदेश देने की औपचारिक वैधता प्राप्त है।

(ब) एक संगठन के रूप में – संगठन के रूप में अधिकारीतंत्र एक संस्तरण बद्ध संगठन है जिसकी रचना बौद्धिक ढंग से ऐसे व्यक्तियों के कार्यो के समीकरण के लिए की गई है जो वृहद स्तर के प्रशासनिक दायित्वों व संगठनात्मक लक्ष्यों में लगे है।

इस भाँति वेबर के लिए नौकरशाही विधि द्वारा स्थापित औपचारिक व संस्तरित पदों की एक अवैयक्तिक व्यवस्था है जो प्रशासनिक दायित्वों की पूर्ति और संगठनात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए

स्थापित की जाती है। अतः नौकरशाही संगठन अथवा प्रशासन का एक विशेष रूप अथवा प्रणाली है। वेबर ने स्पष्ट लिखा है कि नौकरशाही प्रशासन का मौलिक अर्थ ज्ञान के आधार पर नियंत्रण करना है। इसकी यह विशेषता इसे विशिष्ट रूप से बौद्विक बनाती है।

समाजशास्त्र में नौकरशाही की अवधारणा के प्रयोग का श्रेय मुख्य रूप से मैक्स वेबर को दिया जाता है जिसने नौकरशाही को एक आदर्श प्रारूप के रूप में समझाने का प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त मोस्का, रॉबर्ट के0 मर्टन, पीटर एम0 ब्लाउ तथा एटज़ियोनी आदि विद्वानों ने भी नौकरशही की अवधारणा व सिद्वान्त के बारे में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

3.5.1 विशेषतायें

नौकरशाही की अवधारणा को इसकी निम्नलिखित विशेषताओं द्वारा और अधिक अच्छी प्रकार से समझा जा सकता है :

1. **नियमों का महत्व** – नौकरशाही में पदाधिकारियों के कार्य अवैयक्तिक नियमों के अन्तर्गत होते हैं तथा इन नियमों में स्थायित्व व निरन्तरता पाई जाती है। नौकरशाही को एक ऐसा संगठन कहा जा सकता हैं जिस में व्यक्तियों की अपेक्षा पदों से जुड़ें नियमों को अधिक महत्व दिया जाता है। समान रूप से सभी पदाधिकारियों द्वारा इन नियमों के पालन के कारण नौकरशाही संगठन में स्थायित्व बना रहता है।
2. **स्पष्ट एंव निश्चित कार्य–क्षेत्र** – नौकरशाही में प्रत्येक अधिकारी की सत्ता तथा दायित्वों का क्षेत्र सीमित होता है। वास्तव में, नौकरशाही में कार्य कुशलता तथा दक्षता के आधार पर श्रम–विभाजन पाया जाता है। जिसमें प्रत्येक सदस्य का कार्य–क्षेत्र पूर्णतः स्पष्ट रूप से परिभाषित होता है।
3. **पदों का संस्तरण** – अधिकारी तंत्र को कार्यों का संस्तरण–बद्ध संगठन कहा जा सकता है अर्थात इसमें विभिन्न पद उच्चता से निम्नता के क्रम में संगठित रहते हैं, परन्तु निम्नता से उच्चता की ओर अपील करने की छूट होती है अगर किसी अधिकारी की किसी प्रकार की शिकायत है तो वह अपने से उच्च अधिकारी से ऐसा कर सकता है। पदों में संस्तरण होने के बावजूद ये पद एक–दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े होते हैं तथा इनमें केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति पाई जाती है।
4. **तकनीकी नियमों अथवा आदर्श प्रतिमानों के आधार पर अधिकारियों के व्यवहार पर नियंत्रण** – नौकरशाही में सभी पदाधिकारियों के कार्य तकनीकी नियमों द्वारा नियंत्रित होते है अर्थात् कोई अधिकारी मनमाने ढंग से व्यवहार नहीं कर सकता, अपितु उसे नियमों के अनुसार

ही कार्य करना पड़ता है। नौकरशाही में उच्च पदों पर नियुक्ति अधिकारियों को अपने से निम्न पदाधिकारियों के कार्यों की देख –रेख का अधिकार होता है। तथा अगर अनिवार्य हो तो वे ऐसा अनुशासन समिति द्वारा कर सकते हैं।

5. **प्रशासनिक पदाधिकारियों का उत्पादन के साधनों के स्वामित्व से पूर्ण पृथक्करण** – नौकरशाही में पदाधिकारी ही उत्पादन के साधनों अथवा प्रशासनिक साधनों पर एकाधिकार नहीं रखते अपितु इनमें अन्तर होता है। अगर ऐसा नहीं है तो अधिकारी तंत्र में बौद्धिकता तथा निष्पक्षता पूर्णरूप से प्राप्त नहीं की जा सकती।
6. **बाहरी अंकुश की कमी** – नौकरशाही संगठन बाहरी दबावों तथा अंकुश से मुक्त होना चाहिए ताकि सभी पदाधिकारी अपनी सीमाओं के अन्दर नियमानुसार कार्य कर सकें। अगर बाहरी अंकुश होगा तो सही निर्णय लेने की प्रक्रिया प्रभावित हो सकती है तथा लक्ष्य प्राप्ति में बाधाएं पैदा हो सकती हैं।
7. **पदों के एकाधिकार का अभाव** – नौकरशाही के पदों पर किसी एक व्यक्ति का एकाधिकार नहीं होना चाहिए तथा संगठन को आवश्यकतानुसार अधिकारियों को स्थानान्तरित करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए। नियमों का पालन न करने पर पद की अवनति तथा क्षमतापूर्वक कार्य करने पर पदोन्नति की व्यवस्था एकाधिकार की समाप्ति के लिए ही नौकरशाही में पाई जाती है।
8. **नियमों, आदेशों तथा निर्णयों का लिखित रूप** – नौकरशाही के सभी नियम आदेश तथा निर्णय लिखित होते हैं तथा किसी भी प्रकार के मौखिक आदेशों इत्यादि की व्यवस्था नहीं होती। हर निर्णय तथा आदेश लिखित रूप में होता है तथा इनका रिकॉर्ड रखा जाता है। यह व्यवस्था नौकरशाही को सुचारू रूप से चलाने तथा पक्षपातरहित बनाने के लिए होती है। इसी विशेषता के आधार पर कुछ लोगों के नौकरशाही संगठन को लालफीताशाही की प्रवृति को जन्म देने वाला संगठन भी कहा है।

उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त नौकरशाही में पदों पर नियुक्ति या तो प्रतियोगी परीक्षा के आधार पर होती है या विशेष योग्यता वाले डिप्लोमा, डिग्री या प्रमाण पत्र के आधार पर की जाती है। प्रत्येक पदाधिकारी अपने काम के एवज में निश्चित वेतन पाता है। पदों में संस्तरण की भाँति वेतन–क्रम में भी एक संस्तरण होता है। इसके साथ ही पदाधिकारियों का अपने कार्य पालन की स्थिति में उत्पन्न कठिनाइयों में उचित रूप से संरक्षण तथा पद–समाप्ति के पश्चात् पेन्शन इत्यादि की सुविधाएं आदि विशेषताएं नौकरशाही में देखी जा सकती हैं।

मैक्सवेबर के अनुसार नौकरशाही अपने उपर्युक्त लक्षणों के कारण आधुनिक समाज में एक वृहत् प्रशासनिक संगठन के बौद्धिक एवं कुशल अभिकरण के रूप में कार्य करता है। परन्तु

रॉबर्ट के0 मर्टन के अनुसार नौकरशाही की यही विशेषतायें इसकी अकुशलता एवं अपर्याप्तता का कारण है क्योंकि इनके आधार पर इस संगठन में तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अधिकारी केवल नियमों के दास बनकर रह जाते हैं, क्योंकि नियमों का पालन करने पर ही उनकी पदोन्नति सम्भव है। यह लक्षण पदाधिकारियों को आत्म–केन्द्रित और घमण्डी बना देते हैं तथा वे अपने हितों की रक्षा के लिए अपने से उच्च अथवा निम्न अधिकारियों के हितों को नुकसान पहुँचाने से नहीं चूकते।

3.5.2 नौकरशाही का राजनीतिक विकास में महत्व

मैक्स वेबर ने नौकरशाही का विश्लेषण इसके सामाजिक परिणामों की दृष्टि से किया है साथ ही नौकरशाही के राजनीतिक विकास में महत्व को भी रेखांकित किया है। यह निम्नलिखित रूप में समाज के विकास में योगदान देता है।

1. यह प्रशासन को प्राविधिक श्रेष्ठता प्रदान करता है। अवैयक्तिक नियमों द्वारा निर्दिष्ट होने के कारण नौकरशाही कार्यवाही की सामान्य विश्वसनीयता एवं गण्यता को बढ़ा देता है। इसके अन्तर्गत कार्य अधिक सूक्ष्मता से, तेजी से, मितव्यपिता से तथा बिना अनावश्यक विवाद के सम्पन्न होते हैं।
2. यह प्रजातंत्र के लिए अनिवार्य होता है। वेबर के अनुसार ज्यों–ज्यों प्रजातंत्र का विस्तार होता है, अधिकारी तंत्र पर आधारित प्रशासनिक व्यवस्था की अपरिहार्यता भी बढ़ती जाती है।
3. यह प्रशासन एंव राजनीतिक नियन्त्रण की पृथकता को सम्भव बनाता है। वास्तव में नौकरशाही ही प्रशासनिक संगठन की एक ऐसी मशीन है जो स्वचालित होती है। इसके द्वारा यह सम्भव हो जाता है कि राजनीतिक नेतृत्व व्यवस्थापिका एवं नीति–निर्माण के कार्यो पर ही अपना ध्यान केन्द्रित कर सके। साथ ही, राजनीतिक नेतृत्व अधिकारी तंत्र पर भी अपना नियन्त्रण रख सकता है ताकि पदाधिकारी मनमानी पर न उतर आयें।
4. यह शिक्षा के महत्व एवं विभेदीकरण को प्रोत्साहन देता है क्योंकि अधिकारी तंत्र की आवश्यकताओं ने शिक्षा के स्वरूप को भी प्रभावित किया है। कर्मचारियों के चयन के लिए विश्वविद्यालयों के डिप्लोमा, सर्टिफिकेट्स तथा डिग्री आदि का महत्व बढ़ जाता है।
5. यह नवीन बौद्धिक, वैज्ञानिक व अवैयक्तिक संस्कृति के उदय में सहायक है। वास्तव में, प्रतियोगी परीक्षाओं पर आधारित, औपचारिक नियमों द्वारा निर्दिष्ट मानवीय भावनाओं में तटस्थ, दफ्तरी कार्य–प्रणाली एक नवीन संस्कृतियों को विकसित कर रही है। इससे नवीन व्यवसायियों

का वर्ग विकसित होता है। तथा समय सारिणी में आबद्ध औपचारिक एवं लिखित नियमों की प्रतिष्ठा से विभूषित, योजनाबद्ध जीवन शैली का विकास होता है प्रत्येक कदम लागत तथा लाभ को विश्लेषण के आधार पर उठाया जाने लगा है।

6. नौकरशाही प्रशासन के साधनों के एकत्रीकरण के प्रोत्साहन देता है। ज्यों–ज्यों नौकरशाही संगठनों का आकार बढ़ता जाता है। त्यों–त्यों इनको चलाने के साधनों को स्वतंत्र व्यक्तियों और समूहों से ले लिया जाता है और अल्पसंख्यक शासक समूह के अधिकार में दे दिया जाता है।
7. नौकरशाही एक ऐसी शासन प्रणाली है जो आर्थिक और सामाजिक मंदों को दूर करके सामाजिक समतलीकरण एवं पाटने का काम करती है। वस्तुनिष्ठ शैक्षिक प्रमाण पत्रों व औपचारिक परीक्षाओं के आधार पर भिन्न पदों पर नियुक्तियों की जा सकती है। परिवार, वंश या आर्थिक सम्पन्नता ऐसी नियुक्तियों को प्रभावित नही करती।

मैक्स वेबर के अनुसार ज्यों–ज्यों समाज में औद्योगिकरण का विकास हो रहा है तथा राज्य की सार्वजनिक क्रियाओं का क्षेत्र बढ़ता जा रहा है, त्यों–त्यों नौकरशाही संगठन की आवश्यकता भी बढ़ती जा रही हैं वेबर के अनुसार यह बात चर्च , राज्य, सेना, राजनीतिक दल, आर्थिक संगठन यहाँ तक कि ऐच्छिक समितियों एवं क्लबों के लिए भी उतनी ही सत्य है। चाहे लोग अधिकारी तंत्र के अभिशापों के सम्बन्ध में कितनी भी शिकायत क्यों न करें, क्षण भर के लिए भी यह सोचना केवल भ्रम मात्र होगा कि दफ्तरों में कार्यरत अधिकारियों को माध्यम बनाये बिना किसी भी क्षेत्र में प्रशासनात्मक कार्य किया जा सकता है।

3.6 बोध प्रश्न

1. 'रूलिंग क्लास' का प्रयोग मुख्य रूप से किसने किया।

   (क) मोस्का (ख) पारेटो

   (ग) सी0 राइट मिल्स (ध) वेबर

2. 'शेर' और 'लोमड़ी' की अवधारणा का सर्वप्रथम प्रयोग किसने किया।

   (क) राबर्ट मिशेल (ख) पारेटो

   (ग) मेकियावेली (ध) वेबर

3. 'दि पावर एलीट' पुस्तक के लेखक है।

(क) मैकाइवर एण्ड पेज (ख) बाटोमोर

(ग) राबर्ट दाहल (ध) सी0 राइट मिल्स

4. रूसों की बौद्धिक भूमिका किस क्रान्ति के लिए मुख्य रूप से उत्तर दायी मानी जाती है।

(क) औद्योगिक क्रान्ति (ख) फ्रांस की क्रान्ति

(ग) अमरीकी क्रान्ति (ध) बोल्शेनिक क्रान्ति

5. राजनीतिक समाजशास्त्र को प्रारम्भ करने का श्रेय किस समाजशास्त्री को जाता है।

(क) मैक्स वेबर (ख) कार्ल मार्क्स

(ग) पारेटो (ध) राबर्ट के0 मर्टन

3.7 सारांश

राजनीतिक समाजशास्त्र की इकाई 3 में शक्ति और उससे सम्बन्धित सिद्वान्तों का विश्लेषण किया गया है। शक्ति और उसका वितरण राजनीतिक उपव्यवस्था का आधार है। शक्ति वितरण केक अभिजन सिद्धान्तों ने राजनीतिक प्रक्रियाओं को विश्लेषित किया है। मोस्का ने शासनवर्ग की अवधारणा के माध्यम से तथा पारेटो ने शासक तथा अशासक अभिजन के परिभ्रमण के माध्यम से शक्ति वितरण को समझाया है। पारेटो स्पष्ट करते है कि अभिजन के परिभ्रमण के द्वारा समाज में परिवर्तन घटित होता है। राबर्ट मिशेल अल्पतंत्र का लौह नियम प्रतिपादित करते है और बताते है कि हर संगठन में शक्ति का प्रयोग एक अल्पतंत्र के द्वारा ही किया जाता है। सी0 राइट मिल्स अमेरिका के सन्दर्भ 'शक्ति अभिजन' की अवधारणा गढ़ते है। वे स्पष्ट करते है कि अमरीकी समाज में राजनेता, उद्योगपति (पूँजीपति) और सैनिक नेतृत्व के मध्य एक गठबन्धन विकसित हो जाता है, जो शक्ति अभिजन कहलाता है, और यही शक्ति अभिजन राजनीतिक सामाजिक रूप से अधिकांश निर्णय लेना है। इस यूनिट के अगरे चरण में राजनीतिक परिवर्तनों में बौद्धिकों की भूमिका को स्पष्ट किया गया है। फ्रांस की क्रान्ति में बौद्धिकों की भूमिका आदर्श उदाहरण के रूप में उभर कर सामने आई थी। राजनीतिक प्रक्रियाओं में दबाव समूह और हित समूह की महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। दबाव समूह राजनीतिक निर्णय निर्धारण को प्रभावित करने के अनेक प्रयास करते है। राजनीतिक स्वरूपों और विशेष रूप से जनतांत्रिक राजनीति का कार्य कलाप नौकरशाही से संचालित होता है।

नौकरशाही एक तर्क संगत संगठन है जिसके द्वारा लोकतांत्रिक समाज अपना कार्य कलाप सम्पन्न करते है।

3.8 उपयोगी पुस्तकें

- डॉ0 धर्मवीर, राजनीतिक समाजशास्त्र, (राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1996)
- डॉ0 एम0एम0 लबानिया, राजनीतिक समाजशास्त्र, (रिसर्च पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1997)
- राइन हार्ड बेन्डिक्स, मैक्स वेबर : एक बौद्धिक व्यक्तित्व (अनु0, कैलाश नाथ शर्मा), हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1969।
- टी0वी0 बॉटोमोर, अभिजन और समाज, (अनुवादकः नेमिशरण मित्तल), दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, नई दिल्ली, 1977।
- हैरी एम0 जानसनः समाजशास्त्र (एक विधिवत विवेचन), अनु0, योगेश अटल, कल्याणी पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1999।

3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न –

1. (क) 2. (ग)

3. (ध) 4. (ख) 5. (क)

3.10 स्वपरख प्रश्न/अभ्यास

प्रश्न 1. 'अभिजन' को परिभाषित कीजिए। अभिजन के परिभ्रमण के सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 2. किस प्रकार 'शक्ति अभिजन' समाज को प्रभावित करते है, विश्लेषण कीजिए।

प्रश्न 3. दबाव समूह और हित समूह में अन्तर स्पष्ट करते हुए राजनीतिक प्रक्रिया में इनकी भूमिका का विश्लेषण कीजिए।

प्रश्न 4. नौकरशाही क्या है। क्या नौकरशाही जनतंत्र के विकास के लिए अनिवार्य है।

इकाई – 4 राजनैतिक दल

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 राजनैतिक दल

4.3 विशेषतायें

4.4 राजनैतिक दलों की संरचना

4.5 राजनैतिक दलों का सामाजिक संगठन

4.6 राजनैतिक भर्तीकरण

4.7 जन–सहभागिता

4.8 राजनैतिक उदासीनता

4.9 कारण और परिणाम (भारत के सन्दर्भ में)

4.10 सारांश

4.11 उपयोगी पुस्तकें

4.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.13 स्वपरख प्रश्न/अभ्यास

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप इस योग्य हो सकेगें कि –

- समाज व्यवस्था की शक्ति एवं सत्ता को सुगमता से समझ सकें।
- समाज व्यवस्था में सत्ता के लिए आकांक्षी व्यक्ति प्रतिस्पर्धा कैसे करते हैं एवं किस प्रकार इसे प्राप्त करते हैं यह समझ सकें।
- यह जान सकें कि राजनैतिक दलों का सामाजिक संगठन कैसा है।
- राजनैतिक दलों में भर्ती की अवधारणा समझ सकें।
- समाज व्यवस्था में जन–सहभागिता की स्थिति समझ सकें।
- राजनैतिक उदासीनता के कारण और परिणामों को समझ सकें।

4.1 प्रस्तावना –

राजनीतिक दल राजनीतिक समाजशास्त्र की महत्वपूर्ण अवधारणा है। राजनीतिक दल को विश्लेषित करने से पूर्व राजनीतिक समाजशास्त्र का संक्षिप्त परिचय सभी चीन है।

लोकतान्त्रिक राजनैतिक व्यवस्था में राजनैतिक दलों का स्थान केन्द्रीय अवधारणा के रूप में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। राजनैतिक दल किसी समाज व्यवस्था में शक्ति के वितरण और सत्ता के आकांक्षी व्यक्तियों एवं समूहों का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे परस्पर विरोधी हितों के सारणीकरण, अनुशासन और सामंजस्य का प्रमुख साधन रहे हैं। इस तरह से राजनैतिक दल समाज व्यवस्था के लक्ष्यों, सामाजिक गतिशीलता, सामाजिक परिवर्तनों, परिवर्तनों के अवरोधों और सामाजिक आन्दोलनों से भी सम्बन्धित होते हैं। राजनैतिक दलों का अध्ययन समाजशास्त्री और राजनीतिशास्त्री दोनों करते हैं, लेकिन दोनों के दृष्टिकोणों में पर्याप्त अन्तर है। समाजशास्त्री राजनैतिक दल को सामाजिक समूह मानते हैं जबकि राजनीतिज्ञ राजनीतिक दलों को आधुनिक राज्य में सरकार बनाने की एक प्रमुख संस्था के रूप में देखते हैं।

4.2 राजनीतिक दल –

राजनीतिक दल राजनीतिक समाजशास्त्र की महत्वपूर्ण अवधारणा है। राजनीतिक दल को विश्लेषित करने से पूर्व राजनीतिक समाजशास्त्र का संक्षिप्त परिचय समीचीन हैं। राजनीतिक

समाशास्त्र के अन्तर्गत सामाजिक जीवन के राजनीतिक एंव सामाजिक पक्षों के मध्य पाई जाने वाली अन्तः क्रिया का विश्लेषण विभिन्न राजनीतिक व सामाजिक चरों के पास्परिक सम्बन्ध, प्रभाव एंव समागम का अध्ययन करते है समाज और राजनीतिक को एक नवीन परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का काम राजनीतिक समाजशास्त्र करता है। दूसरे शब्दों में राजनीतिक समाजशास्त्र' राजनीतिकृत समाज और समाजीकृत राजनीति का अध्ययन करता है। राजनीतिक समाशास्त्र को अनेक विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र एंव राजनीति विज्ञान दोनों विषयों में पढ़ाया जाता है, जिससे इसकी सर्वमान्य परिभाषा करना कठिन हो गया क्योंकि समाजशास्त्री अपने अध्ययन में सामाजिक पक्षों पर अधिक महत्व देते है तथा राजनीतिक समाजशास्त्र को सामान्य समाजशास्त्र की एक उपशाखा मानते हैं। दूसरी ओर, राजनतिज्ञ पक्षों पर अधिक ध्यान देते है और उसे राजनीति– विज्ञान की एक शाखा मानते है।

राजनीतिक शब्द का प्रयोग परम्परागत रूप से राज्य, सरकार एंव राजनीतिक संस्थाओं के सन्दर्भ में किया जाता है। एस. ग्रीर एंव पी. ऑरलियन्स ने लिखा है कि ''राजनीतिक समाजशास्त्र का प्रमुख अध्ययन राज्य नामक अनुपम सामाजिक संरचना का वर्णन, विश्लेषण एंव समाज शास्त्रीय व्याख्या करना है बी. क्रिक के अनुसार, ''राजनीतिक का आशय राज्यों में सन्धियों की प्रक्रिया को माना हैं। मैक्स बेबर के अनुसार, ''राजनीति का आशय शक्ति विभाजन के प्रयास अथवा राज्यों या राज्यों के अन्तर्गत समूहों में शक्ति के विवरण को प्रभावित करने के प्रयास को माना है लेकिन वर्तमान समाजशास्त्री राजनीति संस्थाओं का अध्ययन मात्र नहीं मानकर समस्त अवलोकनीय व्यवहार (Observational Behavior) को इनमें सम्मिलित करते है।''

डेविड ईस्टन ने लिखा है कि, ''किसी समाज में मूल्यों के प्राधिकारिक वितरण से सम्बन्धित क्रिया राजनीतिक है अथात् राजनीति के अध्ययन में केवल राज्य एंव औपचारिक राजनीतिक सस्थाओं का अध्ययन करना ही नहीं है बल्कि यह सामाजिक क्रिया है जो सभी प्रकार के सम्बन्धों में राजनीति पाई जाती है'' एसलेस्वेल ने कहा है कि, '' राजनीति के अध्ययन से हमारा अभिप्रयाय प्रभाव तथा प्रभावशाली, शक्ति तथा शाक्तिशाली का अध्ययन करना है।'' एच. चुलाउ ने लिखा है कि, '' व्यक्ति का व्यवहार इस अर्थ में राजनीतिज्ञ व शासनकर्ता है अथवा आज्ञा पालनकर्ता है जब वह समझौता करता है, वादा करता है एंव सौदेबाजी करता है, जबरदस्ती सहयोग लेता है एंव प्रतिनिधत्व करता है, लड़ता है एंव डरता है।'' राजनीतिक समाजशास्त्र को परिभाषाएँ उन विद्वानों

द्वारा की गई जो इसे राजनीति विज्ञान से सम्बन्धित मानते है जबकि दूसरों वर्ग में उन परिभाषाओं को रखते है जो इसे समासशास्त्र की एक विशिष्ट शाखा मानते है।

राजनैतिक समाजशास्त्री राजनीतिक दल को सामाजिक समूह के रूप में विश्लेषित करते हैं। इन्हें सामाजिक समूह इसलिए माना जाता हैं क्योंकि इनमें सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध पाये जाते हैं। इनकी सदस्यता स्वैच्छिक तथा औपचारिक होती है। इनमें अन्योन्याश्रितओं तथा क्रियाएं अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था पायी जाती है। इनका प्रचालन लक्ष्य उन्मुख क्रियाओं द्वारा समीन्वत होता है। राजनीतिक दलों के सदस्यों से सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए तर्कसंगत व्यवहार की आशा की जाती है। सभी राजनीतिक दल समाज की राजनीतिक आवश्यकताओं के प्रति संरचनात्मक प्रत्युत्तर हैं। समाजशास्त्री राजनीतिक दलों एवं अन्य सामाजिक समूहों (यथा–परिवार, चर्च, व्यवसायिक समूह आदि) में भेद करते हैं। राजनीतिक दलों का प्राथमिक उद्देश्य सत्ता को प्राप्त करना तथा अकेले या अन्य दलों की सहायता से सत्ता को बनाए रखना है। इनका सामान्य वैचारिक दृष्टिकोण तथा इनके संगठन की जनसेवार्थी प्रकृति इन्हें अन्य समूहों से पृथक करती है। इस नाते राजनीतिक दल विविध प्रकार के सामाजिक–आर्थिक हितों को भी समायोजित करते हैं। इसी कारण इन्हें कई बार उपसंस्कृतियों के रूप में या बहुदलीय सहबन्ध के रूप में देखा जाता है।

जिन अर्थों में राजनीतिक समाजशास्त्र में राजनीतिक दलों का प्रयोग हो रहा है, वास्तव में वह सवा सौ वर्षों से अधिक पुरानी अवधारणा नहीं है। सन् 1850 ई0 में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के अलावा किसी राष्ट्र में राजनीतिक दल का वर्तमान प्रतिमान विद्यमान नहीं था। वर्तमान समय में राजनैतिक चेतना इतनी आगे बढ़ चुकी है कि सामान्य व्यक्ति भी आज राजनीतिक दलों का तुलनात्मक मूल्यांकन करता है। जोसेफ ए0 शेलिसिंगर के अनुसार 'राजनीतिक दल' शब्द का आविर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप एवं अमेरिका में मताधिकार और प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं के विकास के परिणाम स्वरूप हुआ। इनका सम्बन्ध उन संगठनों से था जिनका लक्ष्य एक या अन्य राजनीतिक दलों से निर्वाचकीय प्रतियोगिता द्वारा लोकसत्तात्मक पद प्राप्त करना था। बाद में दल शब्द का प्रयोग निर्वाचकीय प्रतियोगिता में लगे हुए संगठनों यथा (कुछ छोटे दल, जो मतदाताओं को प्रभावित कर पद प्राप्ति की आकांक्षा नहीं रखते, प्रतियोगी निर्वाचन के उन्मूलन में संलग्न क्रान्तिकारी संगठन तथा सर्वाधिकारी राज्यों के शासक समूह जैसे चीन, उत्तर कोरिया आदि के लिए प्रयोग किया जाता है।

मैकाइवर राजनीतिक दल को ऐसी समिति के रूप में परिभाषित करते हैं जो किसी सिद्धान्त या ऐसी किसी नीति के समर्थन में संगठित होती है जिसे वह सवैधानिक उपायों से शासन की निर्णयकारी वस्तु बनाने का प्रयास करती है।

कुछ विद्वानों ने राजनीतिक दल की परिभाषा इसके द्वारा निष्पादित प्रकार्यों के आधार पर दी है। लॉपेलोम्बरा तथा वीनर के शब्दों में, ''प्रथम, इससे जनमत को संगठित करने तथा माँगों को सरकारी शक्ति एवं निर्णय के केन्द्र तक पहुंचाने की आशा की जाती है, द्वितीय, इसके लिए अपने अनुयायियों में वृहत समुदाय का अर्थ एवं संप्रत्यय सुस्पष्ट करना अनिवार्य है तथा तृतीय, दल राजनीतिक भर्ती, राजनीतिक नेतृत्व, जिनके हाथों में शक्ति तथा निर्णय लेने का अधिकार होगा तथा चयन से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।

कोलमैन तथा रोज़बर्ग के शब्दों में, ''राजनीतिक दल वे समितियां है जिनको अकेले या बहुदलीय आधार पर या किसी वास्तविक अथवा भावी स्वायत्त राज्य की सरकार के कर्मचारियों तथा नीतियों के लिए अन्य समरूपीय समितियों से निर्वाचकीय प्रतियोगिता द्वारा कानूनी नियन्त्रण को प्राप्त करने अथवा इसे रखने सुस्पष्ट एवं घोषित उद्देश्य द्वारा गठित किया गया है।'' इस परिभाषा में निर्वाचकीय प्रतियोगिता पर बल दिया गया है इस कारण एक दलीय राज्यों का वर्णन करना पड़ेगा।

जोसेफ ए. शुम्पीटर भी निर्वाचकीय प्रतियोगिता पर बल देते हैं। इनके अनुसार 'प्रत्येक राजनीतिक दल का प्रथम उद्देश्य सत्ता प्राप्ति के लिए या सत्ता में बने रहने के लिए अन्य दलों पर हावी होना है।,

एफ0 डब्ल्यू0 रिग्स के अनुसार 'दल वह संगठन हैं जो विधान मण्डल के चुनाव के लिए प्रत्याशियों को मनोनीत करता है। यह परिभाषा अधिक व्यापक है क्योंकि इसमें बहुदलीय और एक दलीय राज्यों को समाहित किया जा सकता है। डाउसे तथा ह्यूज ने भी विधानमंडलों के लिए प्रत्याशियों को मनोनीत करना दल का प्रमुख लक्षण बताया है।

राजनीतिक दल की उपर्युक्त परिभाषाओं से हमें यह पता चलता है कि इनमें मानव स्वभाव की दो विशेषताओं मतैक्य एवं संगठन, को महत्व दिया गया है तथा ये दो भिन्न विचारधाराओं पर आधारित हैं। मैकाइवर की परिभाषा आदर्शवादी है तथा इसके अनुसार राजनीतिक दल के कुछ मूल

सामूहिक हितों एवं शासकीय नीतियों का निर्धारण होता है कोलमैन तथा रोजबर्ग और शुम्पीटर की परिभाषाएं वास्तविक विचारधारा पर आधारित हैं क्योंकि इनमें राजनीतिक दलों को मुख्यतः सत्ता के लिए संघर्षरत संगठन माना गया है। इस विचारधारा पर आधारित परिभाषाएं अधिक उपयुक्त लगती हैं। अतः राजनीतिक दल को न्यूनाधिक संगठन समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता हैं जो विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति, सामान्यतः सत्ता प्राप्त करने के लिए निर्वाचकीय प्रक्रिया में भाग लेता है अथवा प्रत्याशियों को मनोनीत करता है।

4.3 विशेषतायें –

राजनीतिक दल की संरचना में कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो इसे अन्य समूह से अलग करती हैं –

1. राजनीतिक दल ऐसा संगठन है जिसका प्राथमिक उद्देश्य राजनीतिक नेतृत्व की प्राप्ति होता है। इसमें दल का नेता संगठित अल्पतंत्र (कार्यकारिणी) द्वारा शक्ति हथियाने का पूरा–पूरा प्रयत्न करता है।
2. सामाजिक एवं आर्थिक उद्देश्यों को लेकर उप संरचनाएं एवं समितियां होती है, जो भौगोलिक सीमाओं, सामाजिक समग्रताओं के आधार पर होती हैं। दल में कई परस्पर विरोधी समूह किसी उद्देश्य तथा राजनीतिक विचारधारा को लेकर साथ जुड़े हुए रहते हैं।
3. हर राजनीतिक दल में अल्पतन्त्र होता है। प्रथम अवस्था में शक्ति का केन्द्रीकरण कुछ अनुभवी नेताओं के हाथ में होता है, जो प्रमुख पदाधिकारी होते हैं, जबकि दूसरी अवस्था में दल का संगठन एक विशेष स्तरीकरण व्यवस्था में विभाजित होता है और हर स्तर पर कुछ स्वायत्तता पाई जाती है।
4. दल में सदस्यता निरन्तर बनी रहती है। एक सदस्य दूसरे सदस्य को दल की गतिविधियों की जानकारी देते रहते हैं। नए सदस्यों के लिए दल में सदस्यता के द्वार हमेशा खुले रहते

हैं। यहीं यह एक खुली संरचना होती है। कुछ लोग दल के सदस्य इसलिए होते हैं कि उन्हें समाज में उसके कारण एक विशेष स्थान मिल जाता है।

उपर्युक्त लक्षणों द्वारा राजनीतिक दल को अन्य संगठन से भिन्न करके देख सकते हैं। राजनीतिक दल का गठन समाज व्यवस्था की दो विशेषताओं द्वारा पाया जाता है –

1. राजनीतिक शक्ति का आधार 'वोट' है अर्थात् सरकार का निर्धारण मतदान प्रणाली से किया जाता है।
2. विभिन्न समूहों में शक्ति के लिए परस्पर प्रतिस्पर्धा होती है। अर्थात् राजनीतिक शक्ति को सत्ता हथियाने के लिए परस्पर होड़ हो रही होती है।

4.4 राजनैतिक दल की संरचना –

मौरिस डुवर्जर ने राजनीतिक दल के सामाजिक संगठन का महत्वपूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इन्होंने दल के संगठन को चार सूत्रीय वर्गीकरण द्वारा समझाने का प्रयास किया है। ये वर्ग निम्न हैं–

1. समिति या कॉकस (Caucus)
2. शाखा या ब्रांच (Branch)
3. कोष्ठक या सेल (Cell)
4. नागरिक सेना या मिलिशिया (Militia)

कॉकस दल के जाने पहचाने लोगों का एक लघु समूह कहा जा सकता है जो न अपने विस्तार और न ही अपनी भर्ती में रूचि रखता है। वास्तव में यह एक बन्द समूह है। जिसकी प्रकृति अर्द्ध–स्थायी होती है। केवल चुनाव के समय ही कॉकस अधिक सक्रिय होता है तथा चुनावों के बीच के समय में यह निष्क्रिय रहता है। इसके सदस्यों की न्यून संख्या इसकी शक्ति का माप नहीं है क्योंकि इसके सदस्यों का व्यक्तिगत प्रभाव, शक्ति एवं क्षमता उनकी संख्या से काफी अधिक होती है। अतः इसके ख्याति प्राप्त सदस्यों की संख्या की अपेक्षा उनका प्रभाव एवं क्षमता अधिक महत्वपूर्ण है। डुवर्जर ने फ्रांसीसी रैडिकल पार्टी और 1918 से पूर्व की ब्रिटिश लेबर पार्टी को इसका उदाहरण बताया है। मताधिकार के विस्तार के साथ 'कॉकस' प्रकार के दल का ह्रास हो जाता है।

शाखा या ब्रांच (Branch) दल परिश्मी यूरोप में मताधिकार के विस्तार का परिणाम है। इसका सम्बन्ध जनता से होता है तथा कॉकस की तरह यह एक बन्द समूह नहीं है क्योंकि इनमें गुणों की अपेक्षा संख्या को अधिक महत्व दिया जाता है। अतः यह अधिक से अधिक सदस्यों की भर्ती में सदैव रूचि रखता है। इनकी राजनीतिक संक्रियताएं केवल चुनाव तक ही सीमित नहीं होती अपितु निरन्तर चलती रहती हैं। ब्रांच कॉकस की अपेक्षा बड़ा समूह है इसलिए इसका संगठन अधिक होता है तथा इसमें कॉकस की अपेक्षा अधिक एकीकरण पाया जाता है। इसमें संस्तरण तथा कर्त्तव्यों का विभाजन सुस्पष्ट होता है तथा स्थानीयता एवं संकीर्णता का भी आभास पाया जाता है। इसमें अधिकतर केन्द्रीकृत दल संरचना होती है और प्रारम्भिक इकाईयां निर्वाचन क्षेत्रों की ही भांति भौगोलिक आधार पर संगठित होती हैं। यूरोप के समाजवादी दलों में ब्रांच के सभी लक्षण पाये जाते हैं। कैथोलिक और अनुदारवादी दलों ने न्यूनाधिक सफलतापूर्वक इसका अनुसरण किया है। जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी संगठनात्मक आधार पर इस प्रकार के दल का एक अच्छा उदाहरण है।

डुवर्जर द्वारा बताया गया दल संगठन का तीसरा प्रकार कोष्ठक या सेल (cell) है जो क्रान्तिकारी साम्यवादी दलों की खोज है। यह ब्रांच की अपेक्षा काफी छोटा समूह होता है तथा इसका आधार भौगोलिक न होकर व्यावसायिक होता है। व्यावसायिक आधार के कारण सेल किसी स्थान पर कार्य करने वाले सभी सदस्यों को एक सूत्र में बाँधना है। कारखाना, वर्कशॉप, दफ्तर एवं प्रशासन आदि इसके अंग हो सकते हैं। चूंकि सेल उन सदस्यों का समूह हैं जो एक ही व्यवसाय में लगे हुए हैं तथा जो प्रतिदिन कार्य के समय मिलते हैं, इसलिए इसके सदस्यों में दलीय एकात्मकता अधिक होती है। वैयक्तिक सेल का अन्य सेलों से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है। सेल का संगठन अनिवार्य रूप से षड्यन्त्रकारी होता है और इसकी निर्माण शैली इस बात का पक्का इन्तजाम करती है कि एक सेल के नष्ट होने पर सम्पूर्ण दल–संरचना संकट में पड़े क्योंकि एक ही स्तर पर पृथक–पृथक इकाइयों के बीच कोई संपर्क नहीं रहता। यह गुप्त सक्रियता के लिए सबसे उपयुक्त माध्यम है। इसकी गुप्त सक्रियताएं मुख्यतः राजनैतिक होती हैं तथा सदस्यों के लिए अधिक महत्वपूर्ण होती हैं। मतों को जीतने, प्रतिनिधियों के समूहन तथा मतदाताओं के प्रतिनिधियों से संपर्क रखने की अपेक्षा सेल दल संघर्ष, प्रचार, अनुशासन तथा अगर अनिवार्य तो गुप्त सक्रियता का एक माध्यम है। इनमें चुनाव जीतने की दूसरे दर्जे के महत्व की बात मानने की प्रवृत्ति होती है। प्रजा तांत्रिक केन्द्रवाद की धारणा दल के सभी पहलुओं पर केन्द्रीकृत नियंत्रण स्थापित कर देती है

जिसका उदाहरण 1917 से पहले लेनिनवादी दल था। डुवर्जर फ्रांसीसी साम्यवादी दल के सदस्यों में सेल संरचना के प्रति शत्रु भाव होने का भी संकेत करते हैं।

डुवर्जर का दल–संगठन का चौथा प्रकार मिलिशिया प्रकार का संगठन है। यह एक प्रकार की निजी सेना है जिसके सदस्यों को सैनिकों की तरह भर्ती किया जाता है तथा जिन्हें सैनिक संगठन की भाँति अनुशासन में रहना और प्रशिक्षण लेना पड़ता है। इसकी संरचना भी सैनिक संरचना के समान होती है अर्थात् इसके सदस्य सेना की तरह टुकड़ियों, कम्पनियों और बटालियनों से संगठित होते हैं। मिलिशिया सेना के अधिक्रमिक लक्षण ग्रहण कर लेती है। मिलिशिया की चुनाव तथा संसदीय गतिविधियों में कोई रूचि नहीं होती क्योंकि यह प्रजातन्त्रीय व्यवस्था को मजबूत करने की अपेक्षा इसे उखाड़ फेंकने का एक मौलिक साधन है। जिस प्रकार सेल एक साम्यवादी खोज है, ठीक उसी प्रकार मिलिशिया क्रान्तिकारियों की खोज है। हिटलर के आक्रामी सैनिक और मुसोलिनी की क्रान्तिकारी मिलिशिया इस प्रकार की संरचना का उदाहरण हैं। इनकी ओर डुवर्जर यह संकेत करते हैं कि केवल मिलिशिया के आधार पर कभी भी कोई राजनीतिक दल नहीं बना है।

4.5 राजनैतिक दलों का सामाजिक संगठन –

जिस संगठित रूप में राजनीतिक दल आज हमारे सामने विद्यमान हैं, उस रूप में उनका इतिहास अधिक प्राचीन नहीं है। उनकी उत्पत्ति उन्नीसवीं शताब्दी में हुई है परन्तु इससे पूर्व भी मनुष्यों द्वारा निर्मित कुछ संगठन, शासन से प्रत्यक्ष न होने पर भी जनमत के निर्माण तथा मांगों को शासकों तक पहुंचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं। आधुनिक समाज में राजनीतिक दलों का गठन विविध आधारों पर किया गया है।

राजनीतिक दलों के निर्माण में मनोवैज्ञानिक आधार अर्थात् मानव स्वभाव में निहित प्रवृत्तियां प्रमुख हैं। मतैक्य एवं संगठन मानव स्वभाव की दो प्रमुख प्रवृत्तियां हैं। समान स्वभाव एवं मूल्यों वाले व्यक्ति संगठित होकर राजनीतिक दल का निर्माण करते हैं तथा फिर उन मूल्यों को बनाये रखने का प्रयास करते हैं। ब्रिटिश कंज़रवेटिव दल का गठन रूढ़िवादी व्यवस्था को बनाये रखने के समर्थक व्यक्तियों द्वारा किया गया है। कुछ व्यक्ति रूढ़िवादी व्यवस्था में परिवर्तन लाना चाहते हैं तथा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उदारवादी दलों का निर्माण करते हैं, जबकि कुछ लोग विगत युग की पुनरावृत्ति की आकांक्षा के आधार पर प्रतिक्रियावादी दलों का निर्माण करते हैं।

मानव इतिहास में धर्म की राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका रही है तथा आज भी अनेक देशों में धार्मिक नेता एवं पदाधिकारी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से राजनीति में हस्तक्षेप करते हैं। राजनैतिक दलों के सामाजिक संगठन में धर्म प्रमुख भूमिका निभाता है। उदाहरणार्थ भारत में मुस्लिम लीग, अकाली दल, जनसंघ हिन्दू महासभा जैसे दलों के सामाजिक संगठन में धर्म केन्द्रीय भूमिका निभाता है।

राजनीतिक दलों के निर्माण में क्षेत्रीयता अथवा प्रादेशिकता भी एक प्रमुख आधार है। प्रादेशिक हितों की रक्षा के लिए तथा प्रादेशिक समस्याओं के शीघ्र निपटारे के लिए कुछ प्रादेशिक दलों का निर्माण होता है। भारत में डी0एम0के0, तेलंगेना, प्रजा समिति, असम गण परिषद, झारखण्ड मुक्ति मोर्चा आदि।

राजनीतिक दल आर्थिक या वर्गीय आधारों पर भी संगठित होते हैं। मार्क्स के अनुसार राजनीतिक दलों तथा वर्गों का परस्पर सम्बन्ध राज्य व राजनीति के सिद्धान्त का केन्द्रीय बिन्दु होता है। अनेक अन्वेषणों से हमें यह पता चलता है कि वर्गीय हित, दलीय सम्बद्धताओं तथा निर्वाचनों की पसन्द के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा अधिकांश समाज में राजनीतिक दल निर्वाचक वर्गीय हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ब्रिटिन में श्रमिक दल, भारत में मजदूर दल, किसान यूनियन आदि।

जाति भारतीय समाज की आधारभूत विशेषता है। भारत में राजनैतिक दलों के सामाजिक संगठन को जाति हमेशा से प्रभावित करती रही है। स्वतन्त्रता से पूर्व जाति मुक्ति का आन्दोलन राजनैतिक दलों के गठन को प्रभावित करना रहा है। दलित वर्ग कल्याण लीग, बहिष्कृत हितकारिणी सभा, जस्टिस पार्टी इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

स्वतन्त्रता के पश्चात् निर्वाचन प्रतियोगिता में 'जाति' राजनैतिक गतिशीलता लाने वाला प्रमुख सामाजिक आधार बन गया। 'जातीय संलयन' और 'जातीय विखण्डन' राजनैतिक प्रक्रियाओं में केन्द्रीय भूमिका निभाने लगी। सभी राजनैतिक दल जातीय गणना के आधार पर उम्मीदवारों को तय करने लगे। वर्तमान समय में जातीय आधार पर राजनैतिक दलों के गठन का प्रमुख आधार है। समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी, राष्ट्रीय जनता दल, जनता दल यूनाइटेड आदि इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

दलीय संगठन में विचारधारा भी प्रमुख भूमिका निभाती है। समाजवादी, लेनिनवादी और माओवादी विचारधाराओं पर आधारित अनेक दलों का निर्माण भारतीय राजनीति की प्रमुख विशेषता रही है।

4.6 राजनैतिक भर्तीकरण –

राजनीतिक व्यवस्था के राजकीय स्वरूप से पूर्व राजनीतिक व्यवस्था के मूल्यों और लक्ष्यों में शिक्षित एवं दीक्षित होना आवश्यक है अर्थात् राजनीति के मूल्यों एवं लक्ष्यों की जानकारी होनी चाहिए। इन मूल्यों एवं लक्ष्यों में प्रशिक्षित होने की प्रक्रिया को 'राजनैतिक सामाजीकरण' कहा जाता है। जब व्यक्ति को शिक्षा–दीक्षा और योग्यता तथा प्रशिक्षण के अनुरूप विभिन्न राजनैतिक भूमिकाएं सौंपी जाती हैं तो उसे 'राजनीतिक भर्तीकरण' कहा जाता है। संक्षेप में, राजनीतिक सामाजीकरण राजनीतिक संस्कृति सीखने की प्रक्रिया है। जबकि राजनीतिक भर्ती सदस्यों का राजनीति में प्रवेश है। राजनीतिक सामाजीकरण की अवधारणा पर राजनीतिक भर्तीकरण का प्रकार्य अवस्थित है। राजनीतिक भर्तीकरण में पदों, प्रस्थितियों और भूमिकाओं के आधार पर सदस्यों को भर्ती करते हैं।

राजनीतिक व्यवस्था स्वतन्त्र रूप से क्रियाशील होती है लेकिन अत्याधिक मतभेद, पक्षपात, दुराग्रह एवं समूह के हित आदि इस के निषेधात्मक कारक हैं। ये कारक उनमें तनाव पैदा कर संकट की स्थिति उत्पन्न करते हैं। अतः राजनीतिक व्यवस्था के स्थायित्व एवं निरन्तरता के लिए यह आवश्यक है कि समुचित मात्रा में मतैक्य पाया जाए। अभिजनों का यह दायित्व होता है कि वे एकमतता बनाए रखें। राजनैतिक अभिजनों को राजनीतिक समाजीकरण एवं उनकी क्षमता के अनुकूल आवश्यक भूमिकाएं सौंपी जाती हैं, उसे ही राजनैतिक भर्तीकरण कहा जाता है। राजनीतिक भर्ती और राजनीतिक समाजीकरण एक ही प्रक्रिया के दो पहलू हैं। राजनीतिक भर्ती का अध्ययन विभिन्न अभिजन समूहों का अध्ययन है जिसमें उस चयन प्रक्रिया का अध्ययन किया जाता है जिसके माध्यम से किसी राजनीतिक अभिजन के वर्ग की भर्ती आमजनों के मध्य से होती है।

राजनीतिक समाजशास्त्री राजनीतिक भर्ती के विभिन्न कारकों का उल्लेख करते हैं जो कि इस प्रकार है – 1. शक्ति (Power), 2. प्रतिष्ठा (Prestige), 3. ईमानदारी (Rectitude), 4. स्नेह (Affection), 5. कल्याण (Welfare), 6. सम्पत्ति (Wealth), 7. क्षमता (Skill), 8. प्रबोधन (Enlightenment)।

राजनीतिक व्यवस्था में इन कारकों का महत्वपूर्ण योगदान होता है किस व्यक्ति को कब, कहाँ क्या और कितना प्राप्त होता है यह निर्भर करता है कि इन कारकों पर किसका कितना अधिकार है राजनीतिक भर्ती शक्ति के कारण होती है और शक्ति राजनीतिक भर्ती में सहायक होती है। भारत में राजनीतिक भर्ती जाति, धर्म, व्यक्तिगत प्रभाव, पारिवारिक पृष्ठभूमि, आर्थिक प्रभाव जैसे आधारों पर होती है जबकि अमेरिका, रूस एवं चीन जैसे राष्ट्रों में राजनीतिक अभिजनों में भर्ती व्यक्तियों की सैनिक, आर्थिक स्थिति, प्राकृतिक संसाधनों पर स्वामित्व, प्रशासकीय क्षमता एवं युद्ध समर्थता, अभिप्रेरणा एवं तत्परता आदि होती है।

4.7 जन सहभागिता –

जन सहभागिता या राजनीतिक में लोगों की सहभागिता राजनीतिक व्यवस्था का एक आवश्यक एवं महत्वपूर्ण अंग है। प्रत्येक राजनीतिक समाज में राजनीतिक सत्ता अभिजनों के हाथ में रहती है और इन अभिजनों का यह प्रयास होता है कि राजनीतिक व्यवस्था में अधिकाधिक लोगों की सहभागिता हो। यह सर्वमान्य तथ्य है कि जितने अधिक नागरिकों की राजनीतिक व्यवस्था में सहभागिता होती है राजनीतिक सत्ता को उतना ही अधिक स्थायित्व प्राप्त होता है। सहभागिता राजनीतिक सत्ता को औचित्यता प्रदान करती है। जिस समाज में राजनीतिक सहभागिता की मात्रा कम होती है वहाँ अव्यवस्था या अराजकता की स्थिति पैदा होने की सम्भावना अधिक रहती है।

राजनीतिक सहभागिता का अर्थ है कि राजनीतिक सत्ता में अधिकाधिक लोगों का सहयोग एवं कार्य हो। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में इसका महत्व और अधिक होता है क्योंकि प्रजातन्त्र में जनता सरकार को अपनी सहमति देती या दी गई सहमति वापस लेती है।

राजनीतिक सहभागिता को परिभाषित किया जा सकता है। मैक ब्लास्की ने लिखा है कि ''राजनीतिक सहभागिता को उन स्वैच्छिक क्रियाओं जिनके द्वारा समाज के सदस्य शासकों के चयन एवं प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष जन नीतियों के निर्माण में भाग लेते हैं, के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इस परिभाषा में क्लब के सदस्यों की राजनीतिक वार्तालाप जैसी आकस्मिक क्रिया से लेकर राजनीतिक दलों के सदस्यों की सक्रिय क्रियाएं तक इसमें सम्मिलित की जा सकती हैं।

जन सहभागिता एक जटिल अवधारणा है क्योंकि यह विभिन्न चरों से प्रभावित होती है। ये प्रमुख चर मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा राजनीतिक हो सकते हैं एवं इन्हीं चरों के कारण भिन्न–भिन्न देशों, समयों एवं लोगों के बीच राजनीतिक सहभागिता की मात्रा भिन्न होती है।

राजनीतिक समाजशास्त्रियों ने राजनीतिक सहभागिता की अनेक क्रियाओं का उल्लेख किया है। इन क्रियाओं से राजनीतिक सहभागिता की प्रकृति एवं मात्रा का स्पष्ट विश्लेषण होता है। मतदान, जानकारी देना, वाद–विवाद, धर्मांतरण, सभाओं में उपस्थिति, चन्दा देना, दल की सदस्यता ग्रहण करना, चुनाव में भाग लेना, भाषण देना, लिखना एवं राजनीतिक दलों के लिए चुनाव लड़ना आदि राजनीतिक सहभागिता की क्रियाएं हैं।

राजनीतिक सहभागिता के अनेक कारण हो सकते हैं जैसे शिक्षा, व्यवसाय, आय, लिंग, आयु, आवास, गतिशीलता, धर्म, जाति, समूह, प्रभाव आदि। अनेक शोध अध्ययनों से यह प्रमाणित हुआ है कि अधिक सुशिक्षित, उच्च आय वाले, पुरूष वर्ग एवं शहर में रहने वाले लोगों में राजनीतिक सहभागिता का स्तर अधिक ऊँचा होता है। जबकि निम्न स्थिति वाले लोगों में राजनीतिक सहभागिता का स्तर कम होता है राजनीतिक पर्यावरण राजनैतिक सहभागिता की मात्रा बढ़ाता है। यदि किसी राष्ट्र का आकार बहुत बड़ा हो एवं पर्याप्त साधन नहीं हो तो राजनीतिक सहभागिता कम होगी।

4.8 राजनीतिक उदासीनता –

राजनीतिक उदासीनता से अभिप्राय व्यक्ति की राजनीति के प्रति उदासीनता और राजनीतिक सहभागिता में ह्रास से लगाया जाता है। राजनीतिक उदासीनता वास्तव में अधिक व्यापक अवधारणा 'राजनीतिक अलगाव' का एक भाग है। राजनीतिक उदासीनता को समझने के लिए राजनीतिक अलगाव को समझना आवश्यक है। यद्यपि अलगाव एक प्राचीन अवधारणा है तथापि सामाजिक विज्ञानों में इसने महत्वपूर्ण स्थान पूंजीवादी समाजों के अध्ययन के परिणाम स्वरूप ही ग्रहण किया है। फ्रांसीसी भाषा में 'एलीने' (Aline) तथा स्पेनी भाषा में 'एलिण्डो' (Aliens) ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग व्यक्ति की उन मानसिक दशाओं को व्यक्त करने के लिए किया जाता है जिसमें वह अपने आपको परदेशी समझने लगता है तथा अपने एवं अन्य व्यक्तियों के प्रति पृथक्करण अनुभव करने लगता है। वर्तमान समय में इस शब्द का प्रयोग चिन्ताग्रस्त मनोदशाओं अथवा असन्तुलित

मनोदशाओं व प्रवृत्तियों के लिए किया जाता है जो व्यक्ति को समाज से पर्यावरण से और स्वयं से उदासीन बना देती हैं।

राजनीतिक अलगाव में राजनीति या शक्ति के प्रति विकर्षण तथा राजनैतिक सहभागिता मे ह्रास व उदासीनता निहित है। इसमें व्यक्ति अपने आपको राष्ट्रीय लक्ष्यों के प्रति उत्तरदायी एवं सम्बन्धित नहीं समझता। समकालीन विद्वान राजनीतिक अलगाव को आधुनिक औद्योगिक समाजों का ही लक्षण मानते हैं। समाजशास्त्रियों के अनुसार नगरीय–औद्योगिक अधिकारी–तन्त्रीय समाजों में शक्ति की जितनी दूरी आज है, उतनी पहले कभी नहीं रही। राजनीतिक उदासीनता हमें प्राचीन स्थितियों में भी देखने को मिलती है। उदाहरणार्थ, प्राचीन ग्रीक और रोमन प्रथा में जनता की अपने नेताओं के प्रति पूर्ण अधीनता इसी प्रवृत्ति का उदाहरण है।

संक्षेप में, राजनीतिक उदासीनता के अन्तर्गत व्यक्ति में राजनीति के प्रति विकर्षण, शक्तिहीनता और राजनीतिक नेतृत्व पर से विश्वास उठ जाना है। इसमें केवल राजनीति के प्रति मन मुटाव तथा उदासीनता ही सम्मिलित नहीं है अपितु यह अनुभूति निर्णय लेने की प्रक्रिया से सम्बन्धित व्यक्तियों एवं संस्थाओं के प्रति नफरत पैदा करती है।

4.9 कारण एवं परिणाम (भारतके सन्दर्भ में) –

राजनीतिक विचारकों ने राजनीतिक उदासीनता के निम्नांकित प्रमुख कारण बताये है –

1. अविवेकी भावावेश (आवेश),
2. राजनीतिक ज्ञान का अभाव,
3. राजनीतिक प्रभाविता–भावना का अभाव,
4. विभक्त चेतना,
5. राजनीतिक संचार का अभाव,
6. नगरीकरण एवं औद्योगीकरण,
7. राजनीतिक अस्थिरता
8. निरपेक्ष राजतन्त्र
9. सर्वाधिकारवादिता
10. सत्ता का केन्द्रीकरण,

11. भावात्मक परिक्षीणता,
12. व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अभाव की सम्भावित धमकी,
13. अमूर्त राजनीति; तथा
14. नेताओं एवं सदस्यों में अनुकूल सम्बन्धों का अभाव

राजनीतिक उदासीनता के इन कारणों में से कुछ कारण भारत के सन्दर्भ में भी लागू होते हैं। राजनीतिक ज्ञान का अभाव, विभक्त चेतना, राजनीतिक संचार का अभाव, नगरीकरण एवं औद्योगिकीकरण राजनीतिक अस्थिरता, सत्ता का केन्द्रीकरण, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में अभाव की सम्भाविता धमकी और नेताओं एवं जनता के बीच अनुकूल सम्बन्धों का अभाव प्रमुख है।

21वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दो दशकों में भारतीय राजनीति में राजनीतिक उदासीनता का प्रमुख कारण जनता का राजनेताओं पर अविश्वास का बढ़ता जाना। नेताओं के नैतिक पतन के कारण नेतृत्व और जनता के मध्य अनुकूल सम्बन्ध समाप्त होते जा रहे है। जनता का यह विश्वास दृढ़ होता जा रहा है कि सभी नेता नैतिक रूप से कमजोर है, चाहे वे जिस राजनीतिक दल का प्रतिनिधित्व करते है। उनका अंतिम उद्देश्य शक्ति एवं सत्ता का दुरूपयोग है और वे मिलकर जनता के धन को लूट रहे है। जनता का यह विश्वास होता जा रहा है कि मतदान में भाग लेकर और सत्ता परिवर्तन से कुछ नहीं होगा। राजनीतिक नेतृत्व पर भ्रष्टाचार, भाई भतीजावाद के आरोप लगते जा रहे है। राजनेताओं की चल–अचल संपत्ति उनके ज्ञात स्रोतों से कहीं अधिक होने की सूचनाएं सामाने आ रही है। अनेक राजनेता भ्रष्टाचार के आरोप में जेल जा चुके है।

भारत में राजनीतिक अभिजनों में भर्ती की प्रक्रिया अत्यधिक कठिन और जटिल है। इस कारण आमजन राजनीतिक अभिजन वर्ग में नहीं पहुंच पाता। धन, बल आपराधिक चरित्र, वंशवाद, नौकरशाह पिछले कुछ समय से राजनीतिक भर्ती का प्रमुख आधार बन गए है। इसलिए जनता में राजनीति के प्रति निराशा का भाव घर कर गया है।

भारत में उभरता मध्य वर्ग भी राजनीतिक उदासीनता के लिए सहायक सिद्ध हुआ है। पवन वर्मा के अनुसार भारतीय मध्य वर्ग स्वार्थी और हित केन्द्रीत है। वह अपने काम येन–केन प्रकारेण कराने पर विश्वास रखता है चाहे वो कैसी भी राजनीतिक स्थिति हों। मध्यवर्गीय सोच राजनीतिक उदासीनता की है। वह मतदान में भाग लेने की अपेक्षा क्रिकेट मैंच देखना ज्यादा पसन्द करता है।

भारत में राजनीतिक उदासीनता ने कुछ महत्वपूर्ण परिणाम उत्पन्न किये हैं। राजनीतिक उदासीनता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिणाम हाल के दिनों ने न्यायिक सक्रियता के रूप में सामने आ रहा है। चूंकि जनता का विधायिका एवं कार्यपालिका पर से विश्वास उठता जा रहा है इसलिए सामान्य कार्यों में भी न्यायपालिका का हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है। जनता आशा भरी दृष्टि से न्यायपालिका की ओर देख रही है।

राजनेताओं पर बढ़ते अविश्वास के कारण अनेक छोटे बड़े जन आंदोलन प्रस्फुटित हो रहे हैं। ये जन आंदोलन न केवल विकास कार्यों में अवरोध उत्पन्न कर रहे है बल्कि विधान निर्माण की प्रक्रिया को भी प्रभावित कर है। भारत में अनेक भूमि–अधिग्रहण के विवाद एवं जन आंदोलन चल रहे है। सिंगूर, कुडन्कलम, नोएडा विवाद एवं अन्ना आन्दोलन कुछ प्रमुख उदाहरण है।

सूचना क्रान्ति के इस दौर में नेताओं के नैतिक पतन का मीडिया ने फायदा उठाया है। चौबीस घंटे चलने वाले चैनल, स्टिंग ऑपरेशन नेताओं को ब्लैक मेल करते हैं। जनता मीडिया की बात पर बिना प्रमाण के भरोसा कर लेती है क्योंकि उसका वर्तमान नेतृत्व पर से विश्वास जाता रहा है और इस तरह राजनीतिक अस्थिरता को बढ़ावा मिलता है।

बोध प्रश्न

1. 'राजनीतिक दल' विशेषता है –
   (क) आधुनिक समाजों की
   (ख) मध्यकालीन समाजों की
   (ग) प्राचीन समाजों की
   (घ) इनमें से कोई नहीं

2. राजनीतिक सामाजीकरण का अर्थ है –
   (क) राजनीतिक मूल्यों को जानना
   (ख) राजनीतिक लक्ष्यों को जानना
   (ग) राजनीतिक प्रक्रिया का प्रशिक्षण प्राप्त करना
   (घ) उपर्युक्त सभी

3. 'राजनीतिक सहभागिता' है –

(क) मतदान करना

(ख) राजनीतिक दलों को चन्दा देना

(ग) धर्मान्तरण

(घ) उपर्युक्त सभी

4. राजनीतिक भर्तीकरण है –

(क) राजनीतिक लक्ष्यों को जानना

(ख) राजनीतिक प्रक्रिया को सीखना

(ग) योग्यता और प्रशिक्षण के आधार पर राजनैतिक भूमिकायें ग्रहण करना

(घ) मतदान करना

4.10 सारांश

आधुनिक लोकतान्त्रिक समाज व्यवस्थाओं में राजनीतिक दल एक अनिवार्य अंग बन गए हैं। राजनीतिक दल शक्ति एवं सत्ता–प्राप्त करने का प्रमुख अभिकरण हैं। राजनीतिक दलों के माध्यम से ही शक्ति एवं सत्ता प्राप्ति के लिए होने वाले संघर्षों को संस्थाबद्ध किया जाता है। जनता राजनीतिक दलों के माध्यम से अपनी आकांक्षा को अभिव्यक्त करती है। राजनीतिक दलों के सामाजिक संगठन से हमें यह ज्ञात होता है कि राजनीतिक दल के निर्माण में समाज के कौन–कौन से समूह भाग ले रहे हैं। राजनीतिक भर्ती की प्रक्रिया से अभिजन वर्गों में चयन का विश्लेषण होता है। जन सहभागिता से शासन में जनता की भागीदारी का पता चलता है। जनता की राजनीति के प्रति उदासीनता और राजनीतिक सहभागिता में ह्रास राजनीतिक व्यवस्था के लिए चिन्ताजनक होती है और इनका परिणाम न्यायिक सक्रियता, जनता से अविश्वास और जन आन्दोलनों के रूप में प्रकट होता है। इन सभी परिणामों से देश के आर्थिक विकास में बाधा पड़ती है और राजनीतिक अस्थिरता को बढ़ावा मिलता है।

4.11 उपयोगी पुस्तकें –

- हैरी एम0 जॉनसन : समाजशास्त्र (एक विधिवत विवेचन), अनु0, योगेश अटल, नई दिल्ली, कल्याण पब्लिशर्स, 1999
- टी0बी0 बॉटोमोर : समाजशास्त्र, साहित्य एवं समस्याओं का अध्ययन नई दिल्ली, ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, 2004)
- एम0एम0 लवानिया : राजनीतिक समाजशास्त्र (जयपुर रिसर्च पब्लिकेशन, 1997)
- डॉ0 धर्मवीर : राजनीतिक समाजशास्त्र (जयपुर, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1996)
- मौरिस डुवर्जर : पॉलिटिकल पार्टीज, लन्दन, मैथ्युन, 1954

4.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न –

1. (क)
2. (घ)
3. (घ)
4. (ग)

4.13 स्वपरख प्रश्न/अभ्यास –

1. राजनीतिक दल की अवधारणा पर प्रकाश डालिये एवं विशेषतओं का उल्लेख कीजिए?
2. राजनीतिक सामाजीकरण क्या हैं?
3. राजनीतिक भर्ती का लोक तांत्रिक समाजों में क्या महत्व हैं?
4. क्या विकासशील देशों में राजनीतिक उदासीनता समाज के लिए समस्या है?

M. A. Final
PAPER – IVth POLITICAL SOCIOLOGY
BLOCK – II
UNIT - V

M. A. Final
PAPER – IVth POLITICAL SOCIOLOGY
BLOCK – II
UNIT - V

ईकाई की रूपरेखा

5.0 उद्दे य

5.1 प्रस्तावना

5.2 भारत में राजनैतिक प्रकियायें

5.3 भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका

5.4 भारतीय राजनीति में धर्म की भूमिका

5.5 भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद की भूमिका

5.6 भारतीय राजनीति में भाशावाद की भूमिका

5.7 बोध प्र न

5.8 सारां ा

5.9 उपयोगी पुस्तकें

5.10 बोध प्र नों के उत्तर

5.11 स्वपरख प्र न/ अभ्यास

4.0 उद्दश्य

इस ईकाई का अध्ययन करने के प चात आप इस योग्य हो सकेगें कि

- ❖ भारत में राजनीतिक प्रक्रियाओं का अर्थ क्या है?
- ❖ भारतीय राजनीति को जाति व्यवस्था किस प्रकार प्रभावित करती है, यह समझ सकें।
- ❖ भारतीय राजनीति में धर्म की भूमिका को समझ सकें।
- ❖ भारतीय राजनीतिक प्रक्रियाओं को क्षेत्रवाद किस प्रकार प्रभावित करता है, यह समझ सकें।
- ❖ भारतीय राजनीति को भाशावाद कैसे प्रभावित करत है, यह समझ सकें।

5.1 प्रस्तावना

भारत की वर्तमान राजनीतिक प्रक्रियायें स्वतन्त्रतापूर्व की द ाओं से सहसम्बन्धित हैं। मुगल भाासन के प चात भारत में लगभग 200 वर्शों का अंग्रेजी भाासन कायम रहा। अंग्रेजी भाासन से मुक्ति के लिए भारतीयों ने एक दीर्घकालीन स ाक्त स्वतन्त्रता आन्दोलन का सफल संचालन किया। स्वतन्त्रता आन्दोलन और अंग्रेजी भाासन की दीर्घकालीन अन्तर्क्रिया ने भारत की वर्तमान राजनीतिक प्रक्रियाओं का आधार तैयार किया। राजनीतिक

प्रक्रियाओं की प्रमुख वि ोशतायें संविधान से सूत्रबद्ध रूप में स्थापित की गई और इन प्रक्रियाओं को राजनीतिक परम्पराओं का मार्गद र्शन प्राप्त होता रहता है। भारत की राजनीतिक संरचना की प्रमुख वि ोशताओं में न्याय, स्वतन्त्रता, समता, व्यक्ति की गरिमा, राश्ट्र निर्माण और बंधुता के साथ – साथ मूल अधिकार, सार्वभौम वयस्क मताधिकार, बहुदलीय संसदीय लोकतांत्रिक प्रणाली भारत की सामाजिक वि ोशताओं से अन्तक्रियारत है, जिसके परिणाम समाज के लक्ष्यों को प्राप्त में बाधक बन रहे हैं। भारत की चार प्रमुख सामाजिक वि ोशतायें राजनीति प्रक्रिया को प्रभावित कर रही हैं यथा जाति, धर्म, भाशा और क्षेत्र। राजनीतिक प्रक्रियाओं को समझने के लिए सामाजिक वि ोशताओं के प्रभावों को समझना अत्यधिक प्रासंगिक है।

5.2 भारत की राजनीतिक प्रक्रियायें

राजनीतिक प्रक्रियाओं का आधार सामाजिक – सांस्कृतिक प्रक्रियायें है और यह सामाजिक – सांस्कृतिक प्रक्रियायें सामाजिक अन्तःक्र्रिया सामान्यतया सहयोग, प्रतिस्पर्धा, संघर्श, व्यवस्थायें एवं सात्मीकरण के रूप में प्रकट होती हैं। सामाजिक अंतःक्रिया के इन स्वरूपों को सामाजिक प्रक्रियायें कहा जाता है। दूसरे भाब्दों में सामाजिक प्रक्रियाएं वे मूल तरीके है जिनके द्वारा मनुश्य अन्तःक्रिया करता है तथा संबधों को स्थापित करता है। वे व्यवहार के बार – बार आने वाले प्रकारों, जो सामाजिक जीवन में सामान्यतया पाये जाते हैं, को निर्दिश्ट करती है। गिलिन और गिलिन के अनुसार सामजिक प्रक्रियायें अन्तःक्रिया के वे तरीके है जिनको कि हम जब व्यक्ति और समूह मिलते है और संबध की व्यवस्था स्थापित करते हैं या जब जीवन के विद्यमान तरीकों में परिवर्तन करते या विघ्न डालते हैं, तो कुछ घटनाओं का वह क्रम है जो सामजिक जीवन में निरंतर बना रहता है और जो कुछ नि ित परिणामों को उत्पन्न करता है। सामाजिक प्रक्रिया के अनिवार्य तत्व हैः–

- ❖ घटनाओं के क्रम
- ❖ घटनाओं की पुनरावृत्ति
- ❖ घटनाओं के मध्य संबंध
- ❖ घटनाओं की निरंतरता
- ❖ वि िाश्ट परिणाम

राजनीतिक उपव्यवस्था किसी भी सामाजिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण भाग होती है। यह सामाजिक प्रणाली के लक्ष्यों को निर्धारित करती है और भाक्ति तथा सत्ता के संबंधो को वि लेशित करती है। इस प्रकार राजनीतिक प्रक्रियायें किसी समाज में भाक्ति और सत्ता प्राप्त करने के लिए होने वाली अन्तःक्रियाओं की पुरावृत्ति हैं। अतः राजनीतिक प्रक्रियाएं भाक्ति तथा सत्ता के आधार पर घटनाओं का क्रम और पुनरावृत्ति हैं जिनकें नि ित परिणाम होते हैं।

भारतीय समाज की राजनीतिक उपव्यवस्था बहुदलीय लोकतन्त्रात्मक है। यहाँ अनेक राजनीतिक दल भाक्ति और सत्ता प्राप्त करने के लिए चुनाव के माध्यम से प्रतिस्पर्धा करते है और बहुमत प्राप्त कर सत्ता प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। अतः राजनीतिक दल का निर्माण, मतदान व्यवहार, जनमत निर्माण, राजनीतिक गति ीलता, सामाजिक आन्दोलन, चुनावी मुद्दे और नौकर ाारी की भूमिका भारतीय राजनीतिक प्रक्रिया की प्रमुख वि ोशतायें हैं। भारत की राजनीतिक प्रक्रियाओं को भारत की आधारभूत सामाजिक वि ोशताओं यथा जाति, धर्म, क्षेत्रवाद और भाशावाद सर्वदा प्रभावित करती रही हैं।

5.3 भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका

भारतीय सामाजिक व्यवस्था का जाति व्यवस्था भारतीय सामाजिक व्यवस्था का एक प्रमुख आधार है। भारतीय समाज जाति व्यवस्था के आधार पर अनेक संस्तरो में विभाजित है और इसने भारतीय समाज के सभी पक्षों को प्रभावित किया है। जाति व्यवस्था का प्रभाव भारतीय समाज में राजनीति पर व्यापक एवं आन्तरिक रहा है। जाति व्यवस्था जन्मना प्रस्थिति पर आधारित भूमिकाओं, सुविधाओं एवं निर्योग्यताओं का निर्धारण करती है। प्रो. ए. आर. देसाई के अनुसार भारत में जाति व्यवस्था एक व्यक्ति के लिए उनकी प्रस्थिति, कार्यों, अवसरों और प्रतिबन्धों के रूप में निर्धारण करती है।

जाति व्यवस्था को परिभाशित करने में जे. एच. हट्टन, एन. के. दत्त, जी. एस. घुरिये, एम. एस. श्रीनिवास और एस. सी. दुबे का योगदान उल्लेखनीय रहा है। जे. एच. हट्टन ने अपनी पुस्तक ''कास्ट इन इंडिया'' में जाति को एक व्यवस्था माना है जिसमें समाज अनेक 'आत्म केन्द्रित समूहों' और एक दूसरे से पृथक इकाइयों में विभाजित होता है। तथा इन इकाइयों के पारस्परिक सम्बध उच्चता और निम्नता के क्रम में सांस्कृतिक रूप में निर्धारित होते हैं। हट्टन ने विभिन्न जातियों के लिए 'आत्म केन्द्रित समूह' भाब्द का प्रयोग किया है, इस अर्थ का सम्बन्ध जातिवाद से है जाति व्यवस्था से नहीं। इसी कारण यह स्वीकार किया कि भारत की जाति व्यवस्था स्वयं में इतनी जटिल संस्था है कि इसकी प्रकृति को किसी एक परिभाशा के द्वारा स्पश्ट करना संभव नहीं है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में जाति के नियमों तथा मान्यताओं में कुछ अन्तर देखने को मिलता है। एक जाति में अनेक उप जातियां किसी स्थान पर अन्तर्विवाही होती हैं और किसी स्थान पर बहिर्विवाह के नियमों को अधिक मान्यता दी जाती है। ऐसी स्थिति में एन. के. दत्ता तथा जी. एस. घुरिये ने जाति की कोई नि ि चत परिभाशा देकर इसे वि ोशताओं के आधार पर स्पश्ट किया है।

एन. के. दत्त के अनुसार यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत –

- ❖ एक जाति का कोई सदस्य अपनी जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकता
- ❖ एक जाति के सदस्यो पर अन्य जातियों के सदस्यों के साथ खान – पान के क्षेत्र में अनेक प्रतिबन्ध हैं, सभी जातियों के लिए यह प्रतिबन्ध है, सभी जातियों के लिए यह प्रतिबन्ध समान प्रकृति के नहीं है,
- ❖ अधिकां ा जातियों के अपने नि ि चत व्यवसाय होते हैं,
- ❖ सभी जातियों के बीच ऊँच – नीच का संस्तरण है, जिसमें ब्राह्मणों की प्रतिश्ठा पर आधारित है।

जी. एस. घुरिये ने जाति व्यवस्था की सभी वि ोशताओं को संरचनात्मक तथा संस्थात्मक भागों में विभाजित कर स्पश्ट किया है

भारत में जाति और राजनीति के अन्तरसम्बन्धों का अनेक समाज ाास्त्रियों और राजनीति ाास्त्रियों ने अध्ययन किया है। इन अध्ययनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अध्ययन एम. एन. श्रीनिवास का है। श्रीनिवास ने भारतीय राजनीति में जाति की प्रभाव ाली भूमिका को सबसे पहले इंगित किया। इसके प चात ए. सी. मेयर, रजनी कोठारी, आन्द्रे बेत्ते, कैथलीन गफ, एफ. जी. बैली, एडमंड लीच, टी. के. ओम्मेन, योगे ा अटल, रूडोतफ एण्ड रूडोल्फ, एच. ए. गोल्ड, एम. एस. राव आदि समाज ाास्त्रियो ने जाति एवं राजनीति के सम्बन्धो पर अध्ययन किया है। वर्तमान में दीपाकर गुप्ता, योगेन्द्र यादव आदि विद्वान इस कार्य को आगे बढ़ा रहे हैं।

जाति एवं राजनीति के सम्बन्धों की विवेचना में मतभेद पाए जाते हैं, लेकिन चार प्रमुख सैद्धान्तिक विचारधाराएँ जाति एवं राजनीति के सम्बन्धों को लेकर सर्वमान्य हैं।

- पहले के अनुसार राजनीतिक सम्बन्ध केवल सामाजिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति हैं तथा सामाजिक संगठन राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित करते हैं। इस सैद्धान्तिक विचारधारा के समर्थक राजनीति को एक साधन मात्र मानते हैं। भारत में राजनीति को प्राति की प्रतिछाया मानो वाले विचारकों में ए. आर. देसाई प्रमुख है।
- दूसरे सैद्धान्तिक विचारधारा के समर्थक जाति तथा राजनीति दोनों को स्वतन्त्र मानते है तथा राजनीति को जाति के दोशों से बचाना चाहते हैं। रजनी कोठारी इस विचारधारा के आलोचक हैं और कहते हैं कि आज तक भारतीय समाज में जाति और राजनीति का कभी पूर्ण ध्रुवण नहीं हुआ है।
- तीसरी विचारधारा के समर्थक जाति को राजनीति की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं क्योंकि राजनीति जाति के चारो और घूमती है। अगर कोई व्यक्ति राजनीति में ऊँचा उठना चाहता है तो उसे अपनी जाति को अपने साथ लेकर चलना होगा। जय प्रका ा नारायण ने कहा था कि भारत में जाति सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक दल है। बीनर, जोन्स तथा टिकर आदि ने इस विचारधारा को अपना समर्थन दिया भारत में विभिन्न राजनीतिक दल सत्ता प्राप्त करने के लिए जातीय समूहों को संगठित करते हैं।
- चौथी विचारधारा के समर्थक जाति एवं राजनीति को परस्पर सम्बन्धित मानते हैं तथा स्वीकार करते हैं कि दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते है। राजनीति को अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिए भाक्ति की आव यकता पड़ती है और भाक्ति प्राप्ति के लिए जोड़ – तोड़ बैठाने पड़ते हैं। जोड़ – तोड़ के लिए संगठनों का सहारा अनिवार्य है। जाति इसके लिए प्रमुख संगठनात्मक समूह प्रदान करती है तथा राजनीति इस साधन के माध्यम से अपने आपको संगठित करने का प्रयास करती है क्योंकि राजनीति जाति को प्रभावित करती है क्योंकि राजनीति के माध्यम से ही जाति अपने हितों की रक्षा करती है। अतः 'राजनीति के जातिवाद' तथा 'जाति के राजनीतिकरण' के रूप में दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं।

वर्तमान में समाज ाास्त्री और राजनीति ाास्त्री दोनों राजनीति में जाति की भूमिका के बारे में आनुभाविक अनुसन्धान कार्यो में संलग्न हैं। अधिकां ा राजनीति ाास्त्री राजनीति की व्याख्या करने में जाति को एक चर की तरह विवेचित करते हैं जबकि समाजभाास्त्री इसमें राजनीतिक विकास एवं राजनीतिक प्रक्रियाओं में जाति की भूमिका को देखते हैं।

बी.एस. बाविस्कर ने जाति एवं राजनीति के परस्पर सम्बन्धों को तीन आधार पर प्रस्तुत किया है :

- क्या जातीय समूहों के लिए राजनीतिक क्रियाओं में भाग लेना वैध है ? क्या जातियाँ राजनीतिक क्षेत्र में सक्रिय होने के बाद बनी रहती हैं ?
- भारतीय राजनीति पर जाति का क्या प्रभाव रहा ? क्या भारत में प्रजातन्त्रीय प्रक्रिया को जाति ने सकारात्मक और अनुकूल दि ाा में प्रभावित किया है। क्या इससे आधुनिकीकरण की प्रक्रिया, वि ोशकर प्रजातन्त्रीय राजनीति में कोई बाधा आई है ?
- जाति एंव राजनीति की अन्तः क्रिया में मौलिक एवं निर्णायक कारक कौन सा है ? क्या जाति राजनीति को प्रभावित करती है अथवा राजनीति जाति व्यवस्था की प्रकृति को परिवर्तत करती है।

इन तीनों प्र नों के विभिन्न राजनीतिक समाज ाास्त्रियों ने व्यापक उत्तर प्रस्तुत किये हैः–

प्रथम प्र न के उत्तर में लीच, गफ तथा बैली ने यह तर्क दिया है कि आद र्ा रूप में जाति व्यवस्था की प्रमुख वि ोशता अन्योन्याश्रय एवं सहयोग है तथा इसमें राजनीतिक भाक्ति के लिए विभिन्न जातियों में प्रतियोगिता का कोई स्थान नहीं है। राजनीतिक भाक्ति के लिए प्रतियोगिता अथवा राजनीति केवल प्रबल जातियों तक ही सीमित है। आन्द्रे बेत्ते इसे जाति व्यवस्था में ऐसा दृश्टिकोण आनुभाविक अध्ययनों पर आधारित न मानकर जाति के आद र्ा – प्रारूप पर आधारित मानते हैं। जाति की कुछ वि ोशताओं के आधार पर हम ऐसा नहीं कह सकते कि इसमे राजनीति का कोई स्थान नहीं है। विभिन्न जातियों में राजनीतिक प्रतियोगिता और संघर्श आज एक वास्तविकता है तथा पहले ऐसे संघर्श में रहे होगें। राजनीति में सक्रियता के परिणामस्वरूप जातियां समाप्त नहीं हो जाती अपितु अपना अस्तित्व बनाए रखती है।

द्वितीय प्र न का उत्तर में मत है कि जाति (संस्तरण को महत्व देती है) प्राकृतिक प्रजातन्त्रीय व्यवस्था (समतावाद पर आधारित है) की भावनाओं की विरोधी है परन्तु रूडोल्फ ने इस तर्क का खण्डन किया। उनके अनुसार जाति जैसी परम्परागत संस्था ने भारत में अ ाक्षित लोगों को राजनीतिक सहभागिता के लिए प्रोत्साहित किया है। इस प्रकार जाति व्यवस्था आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में बाधक न होकर इसका अभिकरण मात्र है।

तृतीय प्र न के उत्तर के सन्दर्भ में अनेक विद्वानों ने जाति एवं राजनीति के परस्पर सम्बन्धों का अध्ययन करने में जाति को राजनीतिक प्रक्रियाओं की अपेक्षा अधिक महत्व दिया है। रजनी कोठारी ने इन विद्वानों के विचारों से असहमति प्रकट की है तथा सुस्पश्ट रूप से यह बताने का प्रयास किया है कि जाति तथा राजनीति, दोनों एक दूसरे को समान रूप से प्रभावित करते हैं। अतः किसी एक को अधिक महत्व देना अनुचित है। इनके विचारानुसार राजनीतिक संरचनाओं का अपना पृथक स्वायत्त एवं स्वतन्त्र अस्तित्व होता है अगर राजनीति जाति द्वारा प्रभावित होती है तो जाति की प्रकृति एवं सरंचना भी राजनीति के प्रभाव से परिवर्तित हो जाती है। गोल्ड ने भी जाति एवं राजनीति को समान महत्व देते हुए 'भारतीय राजनीति के जातीय प्रतिमान' का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि जाति व्यवस्था तथा राजनीतिक संरचनाओं (यथा गुट तथा राजनीति दल) में एकात्मकता, अन्योन्याश्रितत, अनन्यता व सजातीयता आदि अनेक असमानताएँ पाई जाती है।

रजनी कोठारी का दृश्टिकोण उचित है कि जाति एवं राजनीति समान रूप से एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। वास्तव में सारा विवाद राजनीति ाास्त्र में चरों को महत्व देने तथा समाजभाास्त्र में सामाजिक चरों का महत्व देने का परिणाम है जिसे राजनीतिक समाज ाास्त्र ने काफी सीमा तक सुलझा दिया है उनके अनुसार जाति प्रथा का लौकिक पक्ष है जिसके कारण दे ा की राजनीति पर किसी एक जाति का प्रभुत्व स्थापित नहीं हो पाया है। जातीय एकीकरण प्रजातन्त्रीय व्यवस्था को निश्ठा प्रदान करने में सहायक रहा है क्योंकि विभिन्न जातियाँ मिल – जुल कर कुछ गठजोड़ बना लेती है तथा उनकी निश्ठा प्रजातन्त्रीय व्यावस्था के प्रति बनी रहती है। जातियों द्वारा राजनीतिक सहभागिता एवं सक्रियता के कारण इसके सदस्यों में चेतना वृद्धि हुई है। वास्तव में राजनीति ने जातियों को अपना सामाजिक स्तर ऊँचा करने का एक माध्यम प्रदान किया है।

जाति व्यवस्था और राजनीति में अन्तर्क्रिया के सन्दर्भ में रजनी कोठारी ने जाति प्रथा के तीन रूप (Three Aspects) प्रस्तुत किये है :–

- ❖ लौकिक रूप (The Secular Aspect)
- ❖ एकीकरण का रूप (The Integration Aspect)
- ❖ चेतना बोध (The Aspect of Consoiousness)

राजनीति अभी प्रभाव ाली आधुनिकता के साधन के रूप में देखी जाती है। इसे जाति को नश्ट करने के बजाए नए समाज की स्थापना में सहायक के रूप में देखा जाता है। अब राजनीतिक संस्थाओं का ढांचा व्यापक होता जा रहा है, जिसमें जाति की भावना को नया रूप मिलता है उसका रोटी – बेटी का सम्बन्ध कमजोर हो गया है। राजनीतिक प्रवृत्तियों ने नए संगठनों को जन्म दिया है। जाति अब राजनीतिक समर्थन या भाक्ति का आधार नहीं रहीं। आधुनिक राजनीति में लोगों की दृश्टि में परिवर्तन हुआ है। यह समझा जा चुका है कि आज के युग में केवल जाति और संप्रदाय से काम नहीं चल सकता इसलिए चुनाव की राजनीति में अनेक जातियों को गुट बनाना पड़ा। इससे विभिन्न जातियों में एकीकरण होता है। राजनीतिक दल की भाक्ति तभी कायम रहती है जब समस्त जातियों के लोग उसे समर्थन दें।

भारतीय समाज में जाति और राजनीति दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं तथा एक – दूसरे का सहारा हैं। कुछ विद्वानों का यह विचार कि प्रजातन्त्रीय व्यवस्था जाति व्यवस्था को समाप्त कर देगी, सत्य सिद्ध नहीं हुई है। यह प्र न सैद्धान्तिक स्तर पर उचित है परन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। कुछ लोग जाति एवं राजनीति में परस्पर सम्बन्धों के सन्दर्भ में यह प्र न करते है। कि क्या भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका एक वरदान या अभि ाप है ? कुछ विद्वान यथा डी. आर. गाडगिल इसे 'राजनीति का कैन्सर' कहते हैं तथा राश्ट्र निर्माण, राश्ट्रीय एकीकरण तथा आधुनिकीकरण में बाधक मानते हैं।

5.4 भारतीय राजनीति में धर्म की भूमिका

धर्म मानव का एक अनिवार्य तत्व है जो कि जीवन के सभी पहलुओं को प्रभावित करता है। किंग्सले डेविस के अनुसार मानव समाज में धर्म इतना सर्वव्यापी, स्थायी एवं दृढ़ है कि इसे स्पश्ट रूप से समझे बिना हम समाज को नहीं समझ सकते हैं।

धर्म एवं राजनीति परस्पर घनिश्ठ रूप से सम्बन्धित है। अमरीका, फ्रांस तथा बेल्जियम में हुए आनुभाविक अध्ययनों से हमे यह पता चलता है कि धर्म व्यक्ति के राजनीतिक व्यवहार को प्रभावित करता है। उदाहरणार्थ, कैथोलिक लोगो की अपेक्षा यहूदी राजनीति में अधिक भाग लेते हैं तथा कैथोलिक लोगों की तुलना में अधिक सक्रिय हैं।

भारतीय समाज धार्मिक विविधता से युक्त समाज है। 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की धार्मिक विविधता निम्न तालिका के माध्यम से स्पश्ट की जा सकती है ÷

क्रम सं.	धर्म	जनसंख्या (करोड़ में)	प्रति ात
1.	हिन्दू	84.13	81.17
2.	मुसलमान	12.62	13.04
3.	ईसाई	2.21	2.16
4.	सिक्ख	2.07	2.02
5.	बौद्ध	0.81	0.79
6.	जैन	0.41	0.40

7.	अन्य	0.43	0.42

भारत में प्राचीन काल से ही यहाँ विदे ाी संस्कृतियों का आगमन होता रहा है तथा सभी धार्मिक वि ोशताओं को बनाये रखने का प्रयास किया जाता रहा है। इसी कारण भारतीय समाज अनेक संप्रदायों में विभक्त होता चला गया। इसमें हिन्दू धर्म की बहुदेववादी प्रकृति ने भी योगदान दिया है। स्वतन्त्रता से पूर्व भारत में धार्मिक विविधा तथा राजनीति पर इसका प्रभाव स्पश्ट रूप से देखा जा सकता है। जब काँग्रेस सारे दे ा की स्वतन्त्रता के लिए संघर्श कर रही थी तब मुस्लिम लीग इसे दो राश्ट्रों में विभाजन की माँग कर रही थी। साथ ही, सिखों का एक गुट पृथक खालिस्तान की माँग कर रहा था। स्वतन्त्रता संग्राम के समय अंग्रेजो ने भारत में अपना भाासन बनाये रखने के लिए धार्मिक विविधता का समुचित लाभ उठाया। स्वतन्त्रता के प चात् भारत को एक धर्म निरपेक्ष लोक राज्य के रूप में स्वीकार किया गया। भारतीय संविधान में सभी धर्मों के नागरिकों को समान रूप से मौलिक अधिकार प्रदान किये गए है। अनु. 29 में धार्मिक अल्पसंख्यकों के संस्कृति एवं ि ाक्षा सम्बन्धी अधिकारों का संरक्षण प्रदान किया गया है जबकि अनु.30 में अल्पसंख्यकों को अपनी पसन्द के ि ाक्षा संस्थानों की स्थापना एवं प्र ाासन का अधिकार दिया गया है।

भारतीय समाज वैज्ञानिकों ने राजनीति में धर्म की भूमिका पर अधिक अध्ययन नहीं किये हैं। अधिकां ा अध्ययन धार्मिक अल्पसंख्यक संप्रदायों (मुख्यतः मुसलमानों) अथवा हिन्दू – मुस्लिम संप्रदायों से ही सम्बन्धित हैं। ऐसा होना स्वाभाविक ही है क्योंकि धार्मिक विविधता के कारण भारतीय समाज में विभिन्न प्रकार के तनाव पैदा होते रहे हैं। यद्यपि साम्प्रदायिक तनाव के पीछे सदैव राजनीतिक स्वार्थ नहीं होते, फिर भी धर्म का प्रयोग राजनीति में तनाव उत्पन्न करने के लिए किया गया है। इतना ही नहीं धार्मिक आधार पर राजनीतिक दलों (यथा मुस्लिम लीग एवं अकाली दल) का निर्माण किया गया है तथा चुनाव अभियानों एवं मतदान आचरण को प्रभावित करने के लिए धर्म का सहारा लिया जाता है।

भारत सैद्धान्तिक रूप से एक धर्म – निरपेक्ष लोक राज्य है, परन्तु अगर व्यावहारिक रूप में देखें, तो धर्म एवं सांप्रदायिकता राजनीति को प्रभावित करने वाले तत्वों में से प्रमुख तत्व है। भारत में धर्म की राजनीति में भूमिका निम्नांकित तथ्यों के आधार पर स्पश्ट की जा सकती है :

- ❖ स्वतन्त्रता के प चात भारत में अनेक राजनीतिक दलों (यथा मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, अकाली दल आदि) का गठन धर्म एवं साम्प्रदायिकता के आधार पर हुआ है। मौरिस जोन्स के अनुसार अगर साम्प्रदयिकता को व्यापक अर्थ में लिया जाय तो सभी दलों में किसी न किसी स्तर पर और कुछ न कुछ मात्रा में सांप्रदायिकता देखी जा सकती है।
- ❖ चुनाव अभियान तथा मतदान आचरण को प्रभावित करने के लिए धर्म एवं सांम्प्रदायिकता का सहारा लिया जाता है। मठाधी ाों, इमामों तथा पादरियों ने पिछले कुछ वर्शों में चुनावों को प्रभावित करने में अपने प्रभाव का खुलकर प्रयोग किया है।
- ❖ भारत में अनेक धार्मिक संगठन (यथा जमायते इस्लाम जमीयत – उल – हिन्द आदि) राजनीति में स ाक्त प्रभावी समूहों की भूमिका निभाते हैं। तथा सरकारी नीतियों को यथासम्भव प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।
- ❖ अनेक धार्मिक सगंठनों का राजनीतिक प्रचार के लिए प्रयोग किया जाता है तथा धर्म के आधार पर पृथक राज्यों (यथा खालिस्तान) का मांग की जाती है।
- ❖ मंत्रिमण्डलों के निर्माण में धामिर्कक आधार पर विभिन्न संप्रदायों का प्रतिनिधित्व दिया जाता है।

भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता एक गम्भीर समस्या के रूप में स्वतन्त्रता पूर्व से बनी हुई है। डी. आर. गोयल ने इस बात पर बल दिया है कि साम्प्रदायिकता तनाव तथा उपद्रवों को एक विघटनकारी कारक की अपेक्षा मौलिक एकीकरण के अभाव में सूचक के रूप में देखा जाना चाहिए। यह सत्य है कि इससे एकीकरण में कुछ बाधा पड़ती है, परन्तु आधुनिक तकनीकी एवं विचारों से ऐसा होना कोई आ चर्यजनक बात नहीं है। सांप्रदायिकता के कारणों में एक मुस्लिम पृथकतावादी प्रवृत्ति तथा इनका आर्थिक दृश्टि से पिछड़े होने के कारण निरा ाा भी है। इसके कारण मुसलमान तथा अनेक अन्य अल्पसंख्यक समुदाय आज भी मुख्य भारतीय राश्ट्रीय धारा में समाविश्ट नहीं हो पाये है। केवल अल्पसंख्यकों में ही नही अपितु हिन्दुओं में भी संप्रदायवाद पाया जाता है अर्थात् कुछ ऐसे लोग एवं संगठन है जो हिन्दू राश्ट्र में वि वास रखते हैं। लौकिक राज्य होने के कारण सरकार भी धार्मिक मामलो मे अधिक हस्तक्षेप नहीं कर पाती है। कुछ लोग इसे सरकार की उदासीनता मानते है ? क्योकि सरकार इन सांप्रदायिक संगठनों पर प्रतिबन्ध लगाने में असफल रही।

स्वतन्त्रता के प चात धर्म की राजनीति पर प्रत्यक्ष प्रभाव 90 के द ाक के मन्दिर आन्दोलक में देखा जा सकता है। मन्दिर आन्दोलन के कारण भारतीय राजनीति में दक्षिणपंथी राजनीतिक दल 'भाजपा' भाक्ति ाली हुई और सन् 1999 में केन्द्र में सत्ता प्राप्त कर ली। वर्तमान भारतीय राजनीति मे यद्यपि धर्मनिरपेक्षता प्रमुख मुद्दा बना हुआ है तथापि धर्म लोकतान्त्रिक प्रक्रियाओं को प्रभावित करता है।

डी. आर. गोयल ने साम्प्रदायिक तनाव एवं उपद्रवो को रोकने के लिए तीन उपाय बताये हैं :–

- प्र ाासनिक व्यवस्था को अधिक प्रभावी बनाया जाना चाहिये ताकि साम्प्रदायिक तनावों का पूर्वानुमान लगाया जा सके तथा इन्हें रोकने के लिए कारगर कदम उठाये जा सकें।
- साम्प्रदायिक तत्वों का भंडाफोड़ करना चाहिए ताकि जनता ऐसे तत्वों का साथ न दे।
- राश्ट्रीयता के बारे में साम्प्रदायिकता का मुकाबला राजनीतिक प्रचार द्वारा किया जाना चाहिए। ि ाक्षा संस्थानों तथा ि ाक्षा प्रक्रियाओं को इन तत्वों एवं विचारों का विरोध करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

साम्प्रदायिकता के विशय में यह कहा जा सकता है कि स्थिति अभी लाइलाज नहीं हुई है। असगर अली इन्जीनियर ने उचित ही लिखा है कि 'जन समूह धार्मिक हैं साम्प्रदायिक नहीं। सभी सांम्प्रदायों में भ्रामेच्छा वाले धार्मिक और बौद्धिक नेता भी विद्यमान है। .....हम नि ित ही साम्प्रदायिकता की आवृत्ति और गहराई को कम कर सकते हैं।'

5.5 भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद

क्षेत्रवाद की भावनायें भी राजनीति मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। क्षेत्रवाद को प्रादे ि ाकता के संबोधन से भी जाना जाता है। क्षेत्रवाद को परिभाशित करना एक कठिन कार्य है क्योंकि क्षेत्र को भूगोल, आर्थिक विकास, भाशाई एकता, जाति एवं जनजाति आदि विभिन्न आधारों द्वारा परिभाशित किया जाता है। इनमें से कई आधार आपस मे जुड़े होने के कारण क्षेत्रवाद की परिभाशा सम्बन्धी समस्या और जटिल हो जाती है। सामान्यतः क्षेत्रवाद उस भावना को कहा जा सकता है जो दे ा के किसी भाग या क्षेत्र से सम्बन्धित हो और जो भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक – सांस्कृतिक आदि कारणों से अपने पृथक अस्तित्व के लिए जागरूक हों। जब किसी वि ोश क्षेत्र में रहने वाले व्यक्ति यह अनुभव करने लगते हैं कि उनमें सांविधानिक हितों की उपेक्षा की जा रही है तो उनमें प्रदे ि ाकता की भावनाएँ पनपने लगती है जिसके कारण उनकी निश्ठा पूरे राश्ट्र की अपेक्षा अपने क्षेत्र में प्रति

अधिक हो जाती हैं। लोग अपने क्षेत्र के विकास के लिए वि ोशाधिकारों एवं अधिक सुविधाओं की माँग करते हैं जिससे राश्ट्रीय लक्ष्य पिछड़ जाते हैं। क्षेत्रवाद के कारण व्यक्ति केवल अपने प्रदे ा के उद्दे यों की पूर्ति चाहता हैं तथा पड़ोसी प्रदे ाों एवं सम्पूर्ण दे ा के हितों की कोई चिन्ता नहीं करता।

भारत में सामान्यतः क्षेत्रवाद के चार परिणाम बताये गए हैं :–

- ❖ क्षेत्रीय संस्कृतियों का पुनर्गठन
- ❖ प्र ाासनिक एवं राजनीतिक अवक्षेपण
- ❖ केन्द्र – राज्यों के संघर्शो को सुलझाने लिए नियम बनाना ताकि दो अथवा अधिक उप – सांस्कृतिक क्षेत्रों में संघर्श टाला जा सके।
- ❖ केन्द्र तथा राज्यों अथवा राश्ट्र तथा उप –सांस्कृतिक क्षेत्रों में आर्थिक एवं राजनीतिक संतुलन बनाये रखना

भारत में भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक विविधता क्षेत्रवाद का प्रमुख कारण है। भौगोलिक विविधता ने विभिन्न क्षेत्रों में वि िाश्ट सांस्कृतिक समूहों के विकास को प्रेरित किया है। ये सांस्कृतिक समूह एक लम्बा इतिहास रखते हैं और अपनी पृथक् अस्मिता का गौरव भी महसूस करते हैं। समकालीन भारत में इन क्षेत्रीय उप – संस्कृतियों ने उपराश्ट्रवाद का रूप धारण कर लिया है जिससे नदियों का पानी या कुछ गाँवों को लेकर दो प्रदे ाों के बीच उग्र विवाद छिड़ जाता है। 'धरती के पुत्र' का संप्रत्यय इस क्षेत्रीयता का भी परिणाम है। यह राश्ट्र के लिए चुनौती बन गया है। बम्बई में गैर मराठियों का विरोध, तमिल – कर्नाटक जल विवाद, दिल्ली में बिहारियों का विरोध, रेलवे भर्ती में प्रदे ाों को लेकर किया विरोध, पूर्वोत्तर के सांस्कृतिक – नृजातीय अस्मितायें और पंजाब का खालिस्तान आन्दोलन इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

क्षेत्रवाद की भारतीय राजनीति में भूमिका निम्नांकित तथ्यों से स्पश्ट की जा सकती है :–

- ❖ भारत में प्रादे ि ाकता के आधार पर पृथक राज्यों की माँग की जाती रही है तथा राज्य केन्द्र से सौदेबाजी करते रहे हैं। प्रदे ाों को अधिक स्वायत्ता प्रदान किये जाने की मांग भी इसी का परिणाम है जिससे कि केन्द्र राज्य सम्बन्धों में भी कई बार तनाव की स्थिति आ जाती है। आज अनेक राज्य के लोगों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों को पृथक – पृथक राज्य बनाये जाने की मांग यथा आन्ध्रप्रदे ा में आन्ध्र तथा तेलंगाना को पृथक करने, उत्तर प्रदे ा को बुन्देल खंड को प ि चम प्रदे ा (हरित प्रदे ा) अलग करने, महाराश्ट्र से विदर्भ को अलग करने की माँग की जा रही है।
- ❖ प्रादे ि ाकता में निश्ठा अपने प्रदे ा के प्रति ही होनी है जिसके कारण अन्तर्राज्यीय संघर्शो में वृद्धि होती है। भारत में नर्मदा नदी के जल वितरण को लेकर मध्य प्रदे ा, गुजरात एवं राजस्थान में विवाद, भाखड़ा नांगल बांध से उत्पन्न बिजली के बंटवारे को लेकर महाराश्ट्र तथा कर्नाटक में विवाद, चण्डीगढ़ के प्र न पर पंजाब त

  था हरियाणा में विवाद, कावेरी जल के लेकर महाराश्ट्र, कर्नाटक और तमिलनाडु में विवाद, चण्डीगढ़ के प्र न पर पंजाब तथा हरियाण में विवाद तथा पंजाब, हरियाणा एवं हिमाचल प्रदे ा में सीमा विवाद आदि विविध समस्याएँ एक गम्भीर चुनौती बनी हुई हैं जिनसे सम्पूर्ण दे ा की अखण्डता एवं एकीकरण खतरे में है।
- ❖ प्रादे ि ाकता के कारण केन्द्र राज्यों के सम्बन्धों मे तनाव पैदा हुआ है क्योंकि राज्यों द्वारा केन्द्र की नीति का विरोध करना तथा केन्द्र के निर्दे ाों का पालन करना प्रादे ि ाकता की नीति का परिणाम है।

- ❖ भारत में उत्तर–दक्षिण का विवाद प्रादे ि ाकता का ही परिणाम है क्योंकि दक्षिणी राज्य के लोग ये सोचते हैं कि उनकी हर मामले में उपेक्षा की जाती है। दक्षिण के राज्य हिन्दी थोपे जाने का भी निरन्तर विरोध करते रहे हैं तथा वे चाहते हैं कि प्र ाासन की भाशा हिन्दी की बजाए अंग्रेजी होनी चाहिए।
- ❖ भाशावाद की समस्या का मूल कारण भी प्रादे ि ाकता और क्षेत्रवाद भी भावना है। इसी के कारण भारता में आज तक एक सम्पर्क भाशा विकसित नहीं हो पायी है।
- ❖ प्रादे ि ाकता के कारण ही कुछ राज्यों के लोग भारतीय संघ से पृथक होने बात करते रहे हैं। 'स्वाधीन मिजोरम' 'खालिस्तान' , 'बोडोलैण्ड' और 'गोरखालैण्ड' की मांग क्षेत्रीयता का परिणाम है।
- ❖ प्रादे ि ाकता के आधार पर राजनीतिक दलों का गठन किया गया है। अकाली दल, डी. एम. के., ए. आई. ए. डी. एम.के तृणमूल कांग्रेस, डी. आर.सी, ि ावसेना आदि दल प्रादे ि ाकता के कारण ही विकसित हुए हैं।
- ❖ प्रादे ि ाकता के कारण 'भूमि के पुत्र' की धारणा ने भी जन्म लिया है जिसका मूलाधार यह है कि एक प्रदे ा में रहने वालों को अपने प्रदे ा मे रोजगाार और व्यवसाय में प्राथमिकता दी जाय। यह राश्ट्र के लिए आज एक चुनौती बन गया है।
- ❖ राजनीतिक दल अपने – आपको मजबूत करने के लिए प्रादे ि ाकता का सहारा लेते हैं तथा इसी आधार पर कई बार प्रत्याि ायों का चयन किया जाता है और मत माँगे जाते हैं।
- ❖ प्रादे ि ाकता की प्रबल भावना के चलते संघीय स्तर पर क्षेत्रीय दलों का महत्व बढ़ता जा रहा है और केन्द्र में गठबन्धन की राजनीति और राजनीतिक अस्थिरता का दौर प्रारम्भ हो गया है। इसके परिणामस्वरूप राश्ट्रीय सुरक्षा – जांच एजेंसी की स्थापना का कई क्षेत्रीय दलों ने विरोध किया। इसका प्रभाव कानून एवं व्यवस्था से लेकर आर्थिक विकास तक में पड़ता है। सारां ातः कहा जा सकता है कि किसी भी समाज की सामाजिक संरचना वहाँ की राजनीति का महत्वपूर्ण आधार हाती है। प्रादे ि ाकता/क्षेत्रवाद की बढ़ती दर राश्ट्र निर्माण की प्रक्रिया और राश्ट्रीय एकीकरण को व्युत्क्रमानुपात में प्रभावित करती है।

5.6 भारतीय राजनीति में भाशावाद की भूमिका

भाशा एक सामाजिक–सास्कृतिक अवयव है जिसके माध्यम से मानव अभिव्यक्ति करता है। भाशा मानव समाज में संप्रेशण का एक स ाक्त माध्यम है। यह सामाजिक – सांस्कृतिक व्यवस्था का आधार है। भाशा केवल संस्कृति का संरक्षण करती है अपितु उसका विकास कर उसे नवीन पीढ़ी तक प्रेशित भी करती है। प्राकृतिक विविधता के कारण भारत के विभिन्न भागों में तथा एक प्रदे ा के भिन्न – भिन्न भागों में भिन्न – भिन्न भाशाएं एवं बोलीयाँ पायी जाती हैं। वर्तमान में भारत के संविधान में 22 मान्यता प्राप्त भाशाओं का उल्लेख किया गया है इसके अलावा 1,652 भाशायें बोली जाती हैं। इसके अतिरिक्त भारत में और भी भाशाएँ और बोलियां हैं जिनका कुछ न कुछ साहित्य है वैसे तो अधिकां ा भाशाएँ लिपि रहित हैं, परन्तु कुछ की लिपियाँ, और समृद्ध साहित्य भी। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे दे ा और समाज में भाशागत विविधता भी बहुत है।

अंग्रेजी भाासन काल में अंग्रेजी को ि ाक्षा का माध्यम बनाया गया क्योंकि एक तो अंग्रेज इसके माध्यम से दफ्तरों में कार्य करने के लिए लिपिक वर्ग का निर्माण करना चाहते थे तथा दूसरे इससे वे भारतीय संभ्रात – वर्ग को प्रभावित करके अपने भाासन को और स ाक्त बनाना चाहते थे। अंग्रेजी भाशा का पूरे दे ा में सम्पर्क एंव कामकाज की भाशा के रूप में प्रयोग किया जाने लगा। यद्यपि भारत के सामाजिक–सांस्कृतिक एवं राजनीतिक

क्षेत्रों मे अंग्रेजी भाशा एक महत्वपूर्ण भाशा बन गई थी, फिर भी यह जनता की भाशा नहीं बन पाई। स्वतन्त्रता के प चात हिन्दी भाशा को भारतीय संघ की सरकारी भाशा स्वीकार की गयी, इतना ही नहीं, 1956 में राज्यों का भाशा के आधार पर पुर्नगठन किया गया। इससे जनता को अपनी अपनी भाशा का ज्ञान हुआ तथा वे हिन्दी की अपेक्षा अपनी निजी भाशा के अध्ययन या संवृद्धि में लग गये। इससे क्षेत्रीयता एवं भाशाई संकीणर्यताएँ विकसित हुई। गैर – हिन्दी राज्यों में हिन्दी को राश्ट्र भाशा बनाये जाने का निरन्तर विरोध किया गया है। 1960 – 61 में पंजाब, प ि चम बंगाल तथा असम मे हिन्दी भाशा को स्वीकार न करके क्रम ाः पंजाबी, बंगाली तथा असमिया को राज्य की सरकारी भाशा बनाने का तथा इनका विकास करने से सम्बन्धित अधिनियम पारित किये। 3 अक्टूबर 1961 को अलीगढ़ मुस्लिम वि वविद्यालय में हिन्दू – मुस्लिम उपद्रव फूट पड़ा जो कि भीघ्र ही उत्तर प्रदे ा, बिहार, प ि चम बंगाल और मध्य प्रदे ा के अनके लोगों में फैल गया। सरकार ने 28 सितम्बर से 1 अक्टूबर 1961 तक प्रमुख राजनीतिज्ञो, ि ाक्षाविदों एवं वैज्ञानिकों का एक राश्ट्रीय एकता सम्मेलन बुलाया जिसने सारे दे ा में माध्यमिक की ि ाक्षा के लिए तीन भाशाई सूत्र स्वीकार करने की सिफारि ा की। इस सम्मेलन द्वारा यह भी सिफारि ा की गई कि वि वविद्यालयों में अंग्रेजी भाशा थे स्थान पर क्षेत्रीय भाशाओं को ि ाक्षा का माध्यम बनाया जाए और फिलहाल अंग्रेजी को ही भारत की सम्पर्क भाशा बनाये रखा जाए। सरकार ने भाशाई तनाव को सामने रखते हुए 1963 में सरकारी भाशा विधेयक प्रस्तुत किया जिसमें अंग्रेजी के अतिरिक्त हिन्दी को भी संसद एवं अन्य सभी कार्यों (जिनमें पहले अंग्रेजी प्रयुक्त होती थी) में प्रयुक्त करने तथा राज्यों तथा हिन्दी के अतिरिक्त किसी अन्य भाशा के अपनाये जाने की स्थिति में हिन्दी एवं अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाि ात किये जाने का प्रावधान था।

हिन्दी भाशा को राजभाशा बनाये जाने के विरोध में दक्षिणी राज्यों में फिर आन्दोलन भ्ारू हुए। इस घोशणा से कि 26 जनवरी 1965 से हिन्दी राजभाशा होगी छात्रों में भी बड़ा रोश फैल गया अतः दिसम्बर 1967 में राजभाशा अधिनियम मे सं ोधन करना पड़ा। सरकार की भाशा नीति के प्रति राज्यों में उपद्रव होते रहे हैं। पहले उत्तर प्रदे ा,बिहार, मध्यप्रदे ा, राजस्थान, एवं महाराश्ट्र में अंग्रेजी विरोधी प्रद ान हुए और फिर 18 दिसम्बर 1967 को मद्रास में हिन्दी विरोधी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जो कि भीघ्र ही आन्ध्रप्रदे ा एवं मैसूर में भी फैल गया। 1970 में सरकार ने फिर से त्रिभाशा सूत्र का अनुसरण कर दिया।

आज भी भाशा के आधार पर भारत उत्तर और दक्षिण भारत में विभाजित है क्योंकि दक्षिणी राज्यों में हिन्दी साम्राज्यवाद के विरूद्ध आज भी लोगों में तीव्र भावनाएँ पाई जाती हैं। उत्तर प्रदे ा में उर्दू को राज्य की दूसरी भाशा बनाये रखने के विरोध में अनेक जन सभाओं का आयोजन किया गया। भाशाई संकीर्णता के कारण ही 'धरती के पुत्र' के संप्रत्यय का जन्म हुआ है। इससे तात्पर्य है कि सरकारी एवं गैर सरकारी पदों पर नियुक्ति प्रादेि ाक भाशा जानने वाले व्यक्ति की ही होनी चाहिए। इसी कारण आज तक भी दक्षिणी राज्यों को लोक सभाई चुनावों में हिन्दी न बोलने का आ वासन दिया जाता है। भाशा को राजनीति से पृथक रखने का कोई भी सुझाव अभी तक प्रभावकारी सिद्ध नहीं पाया हो है।

90 के द ाक में भूमण्डलीकरण और सूचना क्रांति के प चात स्थितियां कुछ परिवर्तित हुई हैं। भूमण्डलीकरण ने अंग्रेजी को वैि वक भाशा का स्थान देने की मान्यता प्रदान कर दी है। वर्तमान में उत्तर भारत में अंग्रेजी विरोध की भावना पैदा हो गयी है और उभरते मध्यवर्ग ने अंग्रेजी को स्वीकार किया है तथा अंग्रेजी उच्च ि ाक्षा, व्यवसाय और रोजगार की भाशा का स्थान प्राप्त कर चुकी है। इसी प्रकार सूचना क्रांति और टेलीविजन क्रांति ने हिन्दी को अखिल भारतीय संपर्क भाशा का स्थान प्रदान किया है। अब दक्षिण भारत में तीव्र हिन्दी विरोध नहीं पाया जाता, अपितु धीरे – धीरे हिन्दी बाजार की भाशा में परिवर्तित होती जा रही है। परन्तु भाशा का मुद्दा

राजनीति के लिए अभी भी संवेदनभील बना हुआ है। उदाहरणस्वरूप 2013 में जब संघ लोक सेवा आयोग में सिविल सेवा परीक्षाओं में अंग्रेजी की अनिवार्यता का सं ोधन प्रस्तुत किया गया तो यह एक बड़ा राजनीतिक मुद्दा बन गया। और तुरंत दबाव समूह सक्रिय हो गये और संघ लोक सेवा आयोग की परीक्षा में अंग्रेजी भाशा के महत्व वाले सं ोधन को परिवर्तित कर दिया।

संक्षेप में, अब भाशावाद राश्ट्रीय एकीकरण के खतरे के रूप में नहीं विद्यमान है। इसे भौगोलिक और सामाजिक गति ीलता की बढ़ती दर ने ि ाथिल कर दिया है। परन्तु राजनीति के लिए भाशा एक संवेदन ील मुद्दा बना हुआ है।

5.7 बोध प्र□न

1. भारत में मतदान की न्यूनतम आयु है :
   (क) 21 वर्श
   (ख) 25 वर्श
   (ग) 18 वर्श
   (घ) 30 वर्श

2. भारत का सबसे बड़ा अल्पसंख्यक धार्मिक समूह है :
   (क) हिन्दू
   (ख) मुसलमान
   (ग) ईसाई
   (घ) सिख

3. भारत की कौन सी भाशा द्रविड़ भाशा परिवार की नहीं है :
   (क) मलयालम
   (ख) कन्नड़
   (ग) असमिया
   (घ) तेलगू

4. कौन सा राज्य पर्वतीय राज्य नहीं है :
   (क) उत्तराखण्ड
   (ख) सिक्किम
   (ग) हिमाचल प्रदे ा
   (घ) तमिलनाडु

5.8 सारां□ा

भारतीय समाज में वर्तमान राजनीतिक प्रक्रियायें दो सौ वर्शों के लम्बे अंग्रेजी भाासन और उससे मुक्ति के लिए चले स्वतन्त्रता संघर्श से सहसम्बन्धित हैं। संसदीय लोक तन्त्र, बहुदलीय राजनीतिक व्यवस्था, सर्वाभौम व्यस्क मताधिकार, तथा सत्ता का विकेन्द्रीकरण वर्तमान राजनीतिक प्रक्रियाओं की प्रमुख वि ोशता है। इन राजनीतिक प्रक्रियाओं को भारतीय समाज की आधारभूत वि ोशताओं यथा जाति, धार्मिक विविधता, बहुभाशा भाशी समूह और भौगोलिक विभिन्नता ने निरन्तर प्रभावित किया है। समाज वैज्ञानिकों के अनुसार विविधताओं ने अधिकां ातः राजनीतिक प्रक्रियाओं को नकारात्मक रूप में प्रभावित किया हैं। विविधता पूर्ण समाज में एकीकरण और राश्ट्र निर्माण की प्रक्रिया एक चुनौती भरा कार्य होता है, परन्तु भारत का उदार लोकतान्त्रिक व्यवस्था ने विविधताओं के साथ लचीला सांमजस्य स्थापित कर लिया है। जाति जैसी विविधतायें को लोकतन्त्र की सहगामी बन गयी हैं और चुनौतियों के उपरान्त भी राश्ट्र निर्माण की प्रक्रिया निरन्तर जाती है।

5.9 उपयोगी पुस्तकें

- हैरी एम. जॉनसन : समाज ाास्त्र (एक विधिवत विवेचन), अनु. योगे ा अटल, नई दिल्ली, कल्याण पब्लि ार्स, 1999
- टी. बी. बॉटोमोर : समाज ाास्त्र, साहित्य एवं समस्याओं का अध्ययन, नई दिल्ली, ग्रन्थ ि ाल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिलेड, 2004
- एम. एम. लवानिया : राजनीतिक समाज ाास्त्र (जयपुर रिसर्च पब्लिके ान, 1997)
- डॉ. धर्मवीर : राजनीतिक समाज ाास्त्र (जयपुर, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1996)

5.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. (ग)
2. (ख)
3. (ग)
4. (घ)

5.11 स्वपरख प्रश्न/अभ्यास

1. भारत म राश्ट्राय एकाकरण का प्रमुख बाधाए कान – कान सा ह, व्याख्या काजए ?
2. राश्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को संप्रदायिकता ने किस प्रकार प्रभावित किया है ?
3. भारत में भाशावाद की समस्या के हल के लिए किये गये विभिन्न उपायों का उल्लेख कीजिए ?

4. जति के राजनीतिकरण से क्या तात्पर्य है। वर्तमान समय में लोकतान्त्रिक प्रक्रियाओं को राजनीति किस रूप में प्रभावित कर रही है। व्याख्या कीजिए ?
5. क्षेत्रवाद आधुनिक राश्ट्रों के लिए कैन्सर है। स्पश्ट कीजिए ?